

हिन्दू धर्म और देवलोक

हिन्दू धर्म और देवलोक

डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा

स्नातकोत्तरद्वय (हिन्दी एवं संस्कृत), पीएचू डी द्वय (हिन्दी एवं संस्कृत),
डी लिट (हिन्दी), विद्यावाचस्पति (मानद); पूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
हिन्दी-विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)



प्रकाशन-विभाग

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

नयी दिल्ली-110 055

'HINDŪ DHARMA AURA DEVALOKA'

by Dr. Harishchandra Varma

Published by:

PUBLICATIONS DEPARTMENT

Akhila Bhāratiya Itihāsa Saṅkalana Yojanā

Baba Sahib Apte Smriti Bhawan, 'Keshav Kunj',
Jhandewalan, New Delhi-110 055

Ph.: 011-23675667

e-mail : abisy84@gmail.com

Visit us at : www.itihassankalan.org

© Copyright : Publisher

First Edition : Kaliyugābda 5116, i.e. 2014 CE

Laser Typesetting & Cover Design by:

Mukesh Upadhyay

Printed at: Graphic World, 1659 Dakhni Sarai Street,
Daryaganj, New Delhi-110055

Price: ₹ 200/-

(माधव संस्कृति न्यास द्वारा वित्तपोषित)

ISBN : 978-93-82424-12-3

प्रकाशक :

प्रकाशन-विभाग

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

बाबा साहेब आपटे-स्मृति भवन, 'केशव-कुव',

झण्डेवाला, नयी दिल्ली-110 055

दूरभाष : 011-23675667

ई-मेल : abisy84@gmail.com

वेबसाइट : www.itihassankalan.org

© सर्वाधिकार : प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : कलियुगाब्द 5116, सन् 2014 ईउ

लेज़र-टाईपसेटिंग एवं आवरण-सज्जा :

मुकेश उपाध्याय

मुद्रक : ग्राफिक वर्ल्ड, 1659, दखनी सराय स्ट्रीट,

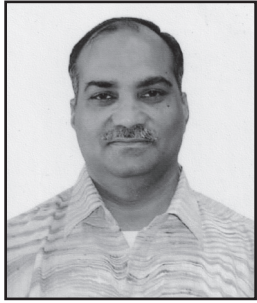
दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002

समर्पण

धर्म-धाम, जो ब्रह्म-ज्ञान-आभा में रत है ।
वेद-भूमि, वह देव-भूमि प्यारा भारत है ॥
मानव-मङ्गल-मन्त्र जहाँ प्राणों में गुंजित ।
समरसता की दृति जहाँ वेदान्त-विभासित ॥
'हिन्दू, हिन्दी, हिन्द' त्रिवेणी जहाँ प्रवाहित ।
वह है हिन्दू राष्ट्र विश्व में परम प्रतिष्ठित ॥
जहाँ धर्म से जन-जन का सम्भव सर्वोदय ।
जहाँ अनृत पर सदा सत्य की होती है जय ॥
देव-लोक द्वारा भी जो चिर चर्चित-अर्चित ।
भारत माँ के चरणों में यह 'पुष्प' समर्पित ॥

—हरिश्चन्द्र वर्मा

भूमिका



सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में ‘धर्म’ एक ऐसा शब्द है, जो अत्यन्त उदात्त अर्थ रखता है। संस्कृत में अर्थग्रथित शब्द बनाने की अद्भुत क्षमता रही है। किन्तु उसका भी जैसा उत्कृष्ट उदाहरण ‘धर्म’ शब्द में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। भारतवर्ष ने जो कुछ सशक्त निर्माण-कार्य युग-युग में संपन्न किया है और कर रहा है, वह सब ‘धर्म’ है। यह धर्म-भाव प्रत्येक हिंदू के हृदय में अनादिकाल से अंकित है।¹ यदि यह प्रश्न किया जाये कि करोड़ों वर्ष प्राचीन भारतीय संस्कृति की उपलब्धि क्या है और यहाँ के जनसमूह ने किस जीवन-दर्शन का अनुभव किया था, तो इसका एकमात्र उत्तर यही है कि भारतीय-साहित्य, कला, जीवन, संस्कृति और दर्शन— इन सबकी उपलब्धि ‘धर्म’ है। भारतीय-जीवनरूपी मानसरोवर में तैरता हुआ सुनहला हंस ‘धर्म’ है। उसी के ऊपर हमारी संस्कृति के निर्माता प्रजापति ब्रह्मा जीवन के सब क्षेत्रों या लोकों में विचरते हैं।²

व्याकरण में ‘धर्म’ शब्द की व्युत्पत्ति इस रूप में है कि ‘धृञ्’ धातु से ‘मन्’ प्रत्यय करने पर ‘धर्म’ शब्द बनता है। ‘धृञ्’ धातु का अर्थ ही है ‘धृञ् धारणपोषणयोः’ अर्थात् किसी भी शास्त्रीय नियमों का धारण करना एवं उनका यथोचितरूपेण पालन करना।³ इस व्युत्पत्ति के आधार पर धर्म की दो परिभाषाएँ इस

1. वाग्धारा, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ. 42
2. कल्याण, ‘धर्मांक’, पृ. 91
3. वही, पृ. 97

(vii)

देश में सदा से मान्य रही हैं। पहला, धर्म ही समस्त जगत् का आधार है— ‘धर्मो विश्वस्य जगतः प्रति १’¹ और दूसरा, धर्म ही प्रजाओं के जीवन में सर्वोपरि तत्त्व है— ‘तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति’²। उसे ही दूसरे प्रकार से कहा गया है कि जो तत्त्व मनुष्य के, समाज के, राष्ट्र के और विश्व के जीवन को धारण करता है, वही धर्म है— ‘धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥’³

जिस प्रकार वेद अनन्त है⁴, उसी प्रकार धर्म के भी अनन्त लक्षण हैं। श्रुति-स्मृति में धर्म के जो लक्षण कहे गये हैं, उनको एकत्रित करना मनुष्य के वश की बात नहीं है।⁵ नारायणपण्डित ने जिसे 8 लक्षणोंवाला धर्म कहा है⁶, मनु ने जिसे 10 लक्षणोंवाला धर्म कहा है⁷ और भागवतमहापुराण में जिसको विस्तार करके 30 लक्षणोंवाला धर्म बताया गया है, वही तो मनुष्यमात्र के लिए सर्वमान्य सनातनधर्म है— ‘सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम्’⁸। स्थूल रूप से, जिस कार्य को करने से (ऐहलौकिक, सांसारिक) उन्नति और (पारलौकिक) मोक्ष की प्राप्ति हो, वही धर्म है— ‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः’⁹। इस प्रकार धर्म वह प्रणाली अथवा संस्था है, जिसकी सर्वांगपूर्ण परिभाषा बन चुकी है¹⁰ कि जो हमें सभी तरह से विनाश और अधोगति से बचाकर उन्नति की ओर ले जाता है, वही धर्म है।

यह धर्म अनादि और अनन्त है; क्योंकि सृष्ट्युत्पत्ति के समय से लेकर प्रलयकाल तक यह विद्यमान रहता है। इसलिए इसे ‘सनातन धर्म’ कहा गया है। ‘सनातन’ का अर्थ है नित्य। जो तत्त्व सर्वदा निर्लेप, निरञ्जन, निर्विकार और सदैव स्वस्वरूप में अवस्थित रहता है, उसे शाश्वत, सनातन कहते हैं।¹¹ यह धर्म सनातन

1. महानारायणोपनिषद्, 22.1
2. वही, 22.1
3. महाभारत, कर्णपर्व, 69.58
4. ‘अनन्ताः वै वेदाः’, —तैत्तिरीयब्राह्मण, 3.10.11.46
5. कल्याण, धर्मांक, पृ. 27
6. हितोपदेश, 1.8
7. मनुस्मृति, 6.92
8. वद्विपुराण, स्नानविधिनामाध्याय
9. वैशेषिकदर्शन, 1.1.2
10. कल्याण, ‘धर्मांक’, पृ. 5
11. क्यों?, पूर्वार्द्ध, शास्त्रार्थमहारथी पुं माधवाचार्य शास्त्री, पृ. 59

(viii)

इसलिए नहीं है कि यह सनातन ईश्वर द्वारा स्थापित है, अपितु यह स्वयं भी सनातन या नित्य है। यह प्रलयकाल तक अस्तित्व में रहेगा, प्रलय के बाद भी नष्ट होनेवाला नहीं है, अपितु गुप्तरूप से तब भी यह अवस्थित रहता है। अगले कल्प में यह पुनः लोगों की रक्षा और उन्नति के लिए प्रकट हो जाता है। इस तरह यह धर्म अनादिकाल से, कल्पों-कल्पों से चला आ रहा है। यह धर्म सनातन केवल इसलिए भी नहीं है कि यह सनातन परमात्मा द्वारा संस्थापित है, यह धर्म सनातन इसलिए भी नहीं है कि यह स्वयं में अविनश्वर है, अपितु यह सनातन इसलिए है कि इस धर्म में विश्वास रखनेवाला तथा इस धर्म पर चलनेवाला भी सनातन हो जाता है। यह धर्म अपने अनुयायी को भी अमर बना देता है।¹ इसलिए हमारे धर्म का नाम सनातन-धर्म अत्यन्त उपयुक्त है।

सनातन धर्म के दो अंग हैं— एक दर्शन या अध्यात्म विचार और दूसरा सदाचार या लोकाचार। संसार के इतिहास में सनातन-धर्म एक विलक्षण प्रयोग और उपलब्धि है। संसार का जो कुछ उच्चतम तत्त्वज्ञान है और जो महती अध्यात्मविद्या है, और मनुष्य के मन की ध्यान-शक्ति से ब्रह्मतत्त्व और सृष्टि के विषय में जो तत्त्व परिज्ञात हुए, उसकी समष्टि ही सनातन धर्म है। किन्तु मानवीय बुद्धि का प्रकर्ष सनातन धर्म का केवल एक अंग है। उसका दूसरा अंग है वह आचार जो श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम, संहिता, तन्त्रादि संस्कृत-वाङ्मय में तथा उनपर आश्रित देश-भाषा के अनेक ग्रन्थों में कहा गया है; अथवा इन ग्रन्थों में अनुक्त होते हुए भी जो सज्जनों से सेवित जाति-धर्म और कुल-धर्मों के रूप में लोकाचार की तरह परम्परा से चला आता है, वह भी सनातन धर्म है। संक्षेप में, श्रुतियों में प्रदर्शित और युग-युग के सदाचार से सम्मत जो महान् धर्म है, उसे ही सनातन धर्म कहते हैं। सनातन धर्म एक निश्चित मान्यता या आचार तक सीमित नहीं, न ही इसकी परिधि में एक निश्चित समुदाय आता है; बल्कि यह तो भारतवर्ष के सारे वर्ण, जाति और अंतर्जातियों का धर्म है।² यह सनातन धर्म न तो किसी समय-विशेष में प्रारम्भ हुआ है और न किसी विशेष संस्थापक या पैगंबर से ही इसका श्रीगणेश हुआ है,³ बल्कि यह प्राचीन काल से चले आ रहे विभिन्न मत-मतांतरों, आस्थाओं एवं विश्वासों का समुच्चय है। एक विकासशील धर्म होने के कारण विभिन्न कालों में इसमें नये-नये

आयाम जुड़ते गये। वास्तव में, हिन्दू धर्म इतने विशाल परिदृश्यवाला धर्म है कि इसमें आदिम ग्राम-देवताओं, भूत-पिशाच, स्थानीय देवी-देवताओं, कुल देवी-देवताओं, झाड़ू-फूँक, तंत्र-मंत्र से लेकर त्रिदेव एवं अन्य देवताओं तथा निराकार ब्रह्म और अत्यन्त गूढ़ दर्शन तक— सभी बिना किसी अंतर्विरोध के समाहित हैं और स्थान एवं व्यक्तिविशेष के अनुसार सभी की आराधना होती है। वास्तव में हिन्दू-धर्म लघु एवं महान् परम्पराओं का उत्तम समन्वय दर्शाता है। एक ओर इसमें वैदिक एवं पुराणकालीन देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना होती है, तो दूसरी ओर कापालिक और अवधूतों द्वारा भी अत्यन्त भयावह कर्मकाण्डीय आराधना की जाती है। एक ओर भक्तिरस से सराबोर भक्त हैं, तो दूसरी ओर अनीश्वर-अनात्मवादी और यहाँ तक कि नास्तिक भी दिखायी पड़ते हैं। यह धर्म सबको स्वीकार करते हुए, सबको साथ लेकर चलता है। सबके साथ सम्प्रीति सनातन धर्म की विशेषता है।

इस प्रकार के करोड़ों-करोड़ हिन्दुओं का जो एक शक्तिशाली भारत राष्ट्र है, उसका धर्म सनातन धर्म है।⁴ यह स्मरणीय है कि भारतवर्ष में सनातनधर्मी वही हो पाता है, जो भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि, पुण्यभूमि, कर्मभूमि स्वीकार करता है और जीवन व मरण के लिए इसी देश के भवचक्र को स्वीकार करता है। भारतवर्ष ही सनातन धर्म की क्रीड़ा-स्थली है, यही वह भूमि है, जिसके साथ हमारे देवी-देवताओं का नित्य संबंध है; यही वह भूमि है, जिसकी महिमा वेदादि शास्त्रों से लेकर विदेशियों तक ने गाई है— **‘माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः’**⁵, **‘न भारतसमं वर्षं पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः’**⁶ इत्यादि। इस प्रकार की भावना में एक ऐसा सूक्ष्म रस है, जो ऊपर से न दिखायी पड़ने पर भी सनातन धर्म की समस्त ज्ञान और कर्ममयी पद्धति को सींचता रहता है। जीवन के लिए वह अमृतभूमि है। हम नाम तो धर्म का लेते हैं, पर श्रद्धा का सारा सम्पुट देश की संस्कृति के लिए अर्पित करते हैं। फलतः सनातन धर्म में धर्म, संस्कृति और मातृभूमि के लिए श्रद्धा— ये तीनों तत्त्व परस्पर ओतप्रोत हो गए हैं।⁷

धर्म का मूल ईश्वर है। हिन्दू धर्म के सभी शास्त्र इसी मूल भित्ति पर खड़े हैं। ईश्वर आनन्दमय है। उसका दर्शन विलक्षण रसानुभूति है। ईश्वर की सिद्धि के

-
1. कल्याण, ‘धर्मांक’, पृ 8
 2. सनातन-धर्म और उसके उन्नायक, पृ 11-12
 3. कल्याण, धर्मांक, पृ 5

-
1. सनातन-धर्म और उसके उन्नायक, पृ 11-12
 2. अथर्ववेद, 12.1.12
 3. ब्रह्ममहापुराण, 27.71
 4. वाग्धारा, पृ 40

लिए तर्क का आश्रय वृथा प्रयास है।

‘व्यापक एकु ब्रह्म अबिनासी । सत चेतन घन आनंदरासी ॥’

इस प्रकार की जो सत्ता है, वह स्वयंसिद्ध है; उसके लिए तर्क आवश्यक नहीं। सनातन-धर्म की दृष्टि से ईश्वर के लिए श्रुति-स्मृतियों का प्रमाण और आप्त वचन ही पर्याप्त है। इस विश्व में और मनुष्यजीवन में ऐसा कुछ भी नहीं जो ईश्वर की सत्ता, ईश्वर की विभूति और उसके आनन्द से व्याप्त न हो। ईश्वर की अद्वितीय सत्ता को, जिसे ब्रह्म भी कहा गया है, स्वीकार करते हुए हिन्दू धर्म की दूसरी विशेषता त्रिदेवों की अधिष्ठापना है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव— ये तीनों सृष्टि, पालन और संहार की शक्तियाँ हैं; जो एक ही मूल शक्ति के त्रेधा विभाग हैं। इन तीनों में कोई छोटा-बड़ा नहीं है। ब्रह्म से लेकर तृणपर्यंत जितना विश्व है, वह जन्म-स्थिति-मृत्यु— इस त्रिक के या इन त्रिदेवों के अधीन है। यह एक भवचक्र है जो सब प्राणियों को अपने उदर में लेकर रात-दिन घूम रहा है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो इन देवों की शक्ति से बाहर हो। यद्यपि ये तीनों देवता अलग-अलग हैं, तथापि हरेक अपने-अपने क्षेत्र में प्रधान हैं। इस प्रकार त्रिकवाद हिन्दू धर्म और हिन्दू-तत्त्वज्ञान की दृढ़ नींव है। इसी मान्यता से सब देवों और देवियों का विकास हुआ है, अस्तु !

प्रस्तुत पुस्तक ‘हिन्दू धर्म और देवलोक’ हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और योजना के यशस्वी लेखक डॉ. हरिश्चन्द्रजी वर्मा की हिन्दू धर्म और उसके तत्त्वज्ञान पर एक मौलिक और महत्वपूर्ण कृति है। इस कृति में लेखक ने ‘गागर में सागर’ भरने का प्रयास किया है। जैसा कि इस पुस्तक के शीर्षक से स्पष्ट है कि पुस्तक में दो विषयों— 1. हिन्दू धर्म और 2. उसके देवपरिवार का प्रतिपादन किया गया है। अतः नौ अध्यायों में विभक्त सम्पूर्ण पुस्तक के प्रारम्भिक चार अध्यायों में हिन्दू धर्म और उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। इन अध्यायों में अनेक विषयों, यथा— वेदों में प्रतिपादित ब्रह्मचर्य-व्रत और अनुशासन, वेदों में राष्ट्र-रक्षा, वेदों में शुभ संकल्पों की महिमा, वेदों में समता, सहयोग और संगठन; हिन्दू-संस्कृति में प्रकृति और पर्यावरण की उपासना, राष्ट्रीय और वैश्विक चेतना, वैदिक ज्ञान की अपौरुषेयता, ‘ऋत’ के रूप में सनातन सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा, वेदान्तदर्शन और आध्यात्मिकता की महिमा, सगुणोपासना और मूर्ति-पूजा की महिमा, धर्म का अर्थ और परिभाषा, धर्म और राजनीति का जनतान्त्रिक स्वरूप, धर्म और संस्कृति,

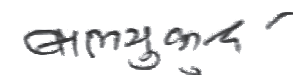
1. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, 22.6

भारतीय धर्म-साधना के प्रमुख विशेषण, अन्य धर्मों से हिन्दू धर्म का वैशिष्ट्य, धर्म और मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य, प्राचीन भारत में योग और आयुर्वेद, भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस में स्वास्थ्यविज्ञान इत्यादि पर प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक के दूसरे भाग में, पाँच अध्यायों के अंतर्गत हिन्दू-देववाद का विश्लेषण-विवेचन किया गया है। विद्वान् लेखक ने सर्वप्रथम ‘देव’ शब्द की व्याख्या करते हुए बहुदेववाद और एकेश्वरवाद के भेद को स्पष्ट किया है। आगे वैदिक त्रिदेव (अग्नि, सूर्य, इन्द्र), पौराणिक त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) के स्वरूप, उनकी उपासना, उनके आयुध, उनके वाहन, उनके ध्वज, उनके परिवार आदि की व्याख्या बड़ी ही युगानुरूप, रोचक किन्तु शास्त्रीय ढंग से की है। इन्हीं तीनों पौराणिक त्रिदेवों के साथ लेखक ने पौराणिक त्रिदेवियों के रूप में शक्तिस्वरूपिणी नारी का अंकन किया है, जो सरस्वती, लक्ष्मी और गौरी के रूप में सृष्टि-कार्य-निर्वाह में सहयोग करती हैं। त्रिदेवों से आगे बढ़ते हुए लेखक ने भारतीय संस्कृति के गगन के जाज्वल्यमान नक्षत्रत्रय— मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम, रामभक्तशिरोमणि श्रीहनुमान् एवं लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य जीवन पर प्रकाश डालते हुए हिन्दू धर्म को विशुद्ध मानवतावादी वेदान्तदर्शन पर आधारित धर्म माना है। लेखक की यह मान्यता जाति, वर्ण, वर्ग, देश, काल आदि सभी भेदभावों से सर्वथा निरपेक्ष है। पुस्तक के ‘उपसंहार’ में लेखक ने हिन्दुत्व की कसौटी पर हिन्दू-समाज की परीक्षा की है और हिन्दू-समाज में आयी विसंगतियों पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए इसकी सम्भावनाओं का विश्लेषण किया है।

ऐसी महनीय कृति के लिए मैं डॉ. वर्मा को हृदय से साधुवाद देता हूँ और उनके दीर्घायुष्य के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ।

बाबा साहेब आपटे-स्मृति भवन
‘केशव-कुञ्ज’, झण्डेवाला,
नयी दिल्ली-110 055



(बालमुकुन्द पाण्डेय)

राष्ट्रीय संगठन-सचिव

आषाढ़ शुक्ल (व्यास) पूर्णिमा
शनिवार, कलियुगाब्द 5116

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

(12 जुलाई, 2014 ई.)

आत्मोद्धार

प्रस्तुत पुस्तक मेरे सुदीर्घ अध्ययन और मनन का परिणाम है। मैं अपने उद्देश्य में कितना सफल रहा हूँ, इसका निर्णय तो विवेकी पाठक ही करेंगे। मनस्वी पाठकों के सुझावों का मुक्त हृदय से स्वागत किया जायेगा और अगले संस्करण में उनका सदुपयोग किया जायेगा।

सुनिर्धारित योजना के अनुसार पुस्तक के प्रथम चार अध्यायों में धर्म के वैचारिक और आचारिक पक्षों का विवेचन किया गया है तथा बाद के पाँच अध्यायों में सगुणोपासना और देवलोक पर प्रकाश डाला गया है।

हमारे धर्म की मूल चेतना वैदिक संहिताओं और उनसे विकसित वेदान्तदर्शन पर आधारित है। अतः वैदिक धर्म का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कराने के उद्देश्य से प्रथम अध्याय में वेदों में व्यक्त लोकजीवन और उसमें निहित पारिवारिक-सामाजिक जीवन के आदर्शों की व्यावहारिक झाँकी प्रस्तुत की गयी है। दूसरे अध्याय में वैदिक संहिताओं, उपनिषदों, गीता और पुराणों के आधार पर हिन्दू-धर्म की मौलिक विशेषताओं का विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय में धर्म की परिभाषा और स्वरूप का विवेचन करते हुए विवेक, नीति, राजनीति, पुरुषार्थचतुष्टय से उसके सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। चौथे अध्याय 'धर्म और मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य' में आयुर्वेद, गीता और श्रीरामचरितमानस के आधार पर धर्म के सर्वथा अछूते आयाम पर प्रकाश डाला गया है। पाँचवें अध्याय में अग्नि, सूर्य और इन्द्र नामक वैदिक त्रिदेवों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। छठा अध्याय ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामक पौराणिक त्रिदेवों की महिमा के विवेचन से सम्बन्धित है। सातवें अध्याय में सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा नामक पौराणिक त्रिदेवियों की दिव्यता का उद्घाटन किया गया है। आठवाँ अध्याय गणेश, कार्तिकेय और शिव-परिवार के पशु-पक्षियों के दिव्य स्वरूप के प्रत्यक्षीकरण से सम्बन्धित है।

नौवें अध्याय में कृष्ण और राम नामक अवतारों के साथ रामभक्त हनुमान् के दिव्य स्वरूपों का मन्थन किया गया है।

इन सभी नौ अध्यायों में कुल मिलाकर हिन्दू धर्म की स्वरूपगत विशिष्टता को दर्शाया गया है। हिन्दू धर्म की महिमा का मूलाधार इसकी स्वरूपगत विशिष्टता ही है, जो इसकी पृथक् पहचान है। इस स्वरूपगत वैशिष्ट्य का मूल स्रोत है इसकी व्यापकतम दार्शनिक पीठिका अर्थात् वेदान्तदर्शन। यह अभेदमूलक जीवन-दर्शन है। यहाँ साकार-निराकार, जीव-जगत्, जड़-चेतन में अभेद है। जहाँ अन्य धर्म (मज़हब, रिलीजन) निर्गुणोपासक हैं और सगुणोपासना, मूर्ति-पूजा आदि का खण्डन करते हैं; वहाँ हिन्दू धर्म निर्गुण-सगुण में कोई भेद नहीं मानता। सगुणोपासना में निर्गुणोपासना स्वतः समाहित है ही। निर्गुण ही तो सगुण रूप ग्रहण करता है। निर्गुण मानवता ही तो मानव में मूर्त और साकार होती है। जैसे मानव के बिना मानवता को नहीं समझा जा सकता, वैसे ही सगुण के बिना निर्गुण को नहीं समझा जा सकता। इसीलिए तो निर्गुण को अवतार लेना पड़ता है, मर्यादापुरुषोत्तम बनना पड़ता है। सगुणोपासना और मूर्ति-पूजा की महिमा स्वयंसिद्ध है। यह नितान्त नैसर्गिक और मानवीय है। कुल मिलाकर वेदान्त मानव-महिमा का दर्शन है।

पुस्तक के लेखन में अतीत की भी अनेक दिव्य प्रेरणाएँ सक्रिय रही हैं। सर्वप्रथम मैं वैदिक संहिताओं, उपनिषदों, गीता, पुराणों आदि के दिव्य द्रष्टा और स्रष्टा ऋषि-मनीषियों को नमन करता हूँ, जिन्होंने धर्म, संस्कृति और जनतान्त्रिक राष्ट्रीय चेतना की ऐसी दिव्य धरोहर हम भारतवासियों को प्रदान की है, जो सचमुच अद्भुत और अकल्पनीय है। स्वर्णिम अतीत की उस गौरवमयी सांस्कृतिक उपलब्धि से पाठकों को अवगत कराना और उसके माध्यम से राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का शंखनाद करना ही इस पुस्तक के लेखन में मेरा उद्देश्य रहा है।

जिन यशस्वी ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से प्रचुर उपयोगी सामग्री उपलब्ध हुई है, उन सभी का उल्लेख तो यहाँ सम्भव नहीं है, किन्तु उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं— डॉ॰ प्रवेश सक्सेना, डॉ॰ विश्वबन्धु, डॉ॰ सत्यकेतु विद्यालंकार, डॉ॰ उषा पुरी विद्यावाचस्पति, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ बुद्धप्रकाश, डॉ॰ कृ॰ दामोदरन आदि।

राष्ट्रोत्थान के पावन अभियान में संलग्न राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उत्तर क्षेत्र कार्यवाह, समर्पित एवं कर्मठ समाजसेवी प्रो॰ सीताराम व्यास की सतत प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही मैं अपने लेखकीय धर्म के निर्वाह में सफल हो सका हूँ। अतः

उनके प्रति साभार हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करता हूँ। अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के राष्ट्रीय संगठन-सचिव, शोधक और चिन्तक माननीय श्री बालमुकुन्द पाण्डेय जी ने अपने पुनीत प्रकाशकीय धर्म का पालन करते हुए मेरे प्रस्तुत प्रयास को पुस्तकाकार रूप में साकार किया है। साथ ही उन्होंने इसकी 'भूमिकर' लिखकर पुस्तक की गरिमा में अभिवृद्धि की है। पुस्तक के स्वच्छ और शुद्ध मुद्रण तथा मनोरम, भव्य आकार के लिए मैं उन्हें आभार-भरित हृदय से धन्यवाद देता हूँ। पुस्तक के निर्दोष और मनोरम मुद्रण और आवरण-सज्जा में श्री मुकेश उपाध्याय की सराहनीय भूमिका रही है। अतः उन्हें धन्यवाद ! पुस्तक के शोधसम्मत प्रकाशन में सारस्वत योगदान के लिए श्री गुंजन अग्रवाल जी को हार्दिक साधुवाद और धन्यवाद ।

जिन सद्भावी साहित्यकार बन्धुओं ने उपयोगी सहायक सामग्री जुटाकर मुक्त हृदय से मेरी सहायता की है, उनमें सामग्री की मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से प्रथम स्थान के अधिकारी हैं सनातन धर्म महाविद्यालय, अम्बाला के हिन्दी-विभाग के सेवा-सम्पन्न अध्यक्ष, बन्धुवर डॉ॰ लीलाधर वियोगी। अभी कुछ ही माह पूर्व उनके दिवंगत होने की स्थिति में, मैं शोक-सन्तप्त तथा कृतज्ञतापूर्ण हृदय से उन्हें श्रद्धाञ्जलि देता हूँ और उनके परिजनों के लिए शान्तिमय, सुखद और उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डॉ॰ लालचन्द गुप्त 'मंगल' ने उपयोगी सामग्री प्रेषित करके मुझे उपकृत और लाभान्वित किया है। अतः डॉ॰ 'मंगल' द्वारा दिये गये मांगलिक सहयोग के लिए धन्यवाद ! मेरे शिष्य-युग्म श्री बलजीत सिंह मलिक तथा डॉ॰ माया मलिक ने अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय से समय-समय पर वाञ्छित पुस्तकें सुलभ कराके मेरी सहायता की। अतः दोनों को हार्दिक साधुवाद और धन्यवाद ।

सदा की भाँति इस बार भी महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्रोफेसर-पद पर सेवारत मेरे प्रिय पुत्र डॉ॰ संजीव कुमार ने पुस्तक के प्रूफ-शोधन में मेरी भरसक सहायता की है। अतः उन्हें हार्दिक शुभाशंसाएँ और साधुवाद !

श्रावण पूर्णिमा, विक्रम संवत् 2071

55, सेक्टर-1, हुड्डा,
रोहतक-124 001 (हरियाणा)
मो : 09255165347

(xv)

—डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा

विषय-सूची

भूमिका बालमुकुन्द पाण्डेय
आत्मोद्गार

क्रमांक	शीर्षक	पृ.ांक
1.	वेदों में व्यक्त लोक-व्यवहार और आदर्श	1
2.	भारतीय धर्म-साधना की मौलिक विशेषताएँ	13
3.	भारतीय धर्म-साधना का स्वरूप	31
4.	धर्म और मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य	49
5.	वैदिक देवलोक और त्रिदेव	65
6.	पौराणिक त्रिदेव	82
7.	पौराणिक त्रिदेवियाँ	105
8.	गणेश, कार्तिकेय और शिव-परिवार के वाहन	126
9.	कृष्ण, राम और हनुमान्	140
	उपसंहार	168
	परिशिष्ट : सूक्ति-विन्दु	179
	डॉ॰ हरिश्चन्द्र वर्मा : जीवन-वृत्त	182



(xvi)

पहला अध्याय

वेदों में व्यक्त लोक-व्यवहार और आदर्श

वेद और वैदिक जीवन ही भारतीय धर्म-साधना के मूल स्रोत हैं। यहाँ धर्म-साधना के सभी सिद्धान्त वेदकालीन लोक-व्यवहार से नैसर्गिक रूप में विकसित हुए हैं। वैदिक लोक-जीवन ही भारतीय दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि शास्त्रों के विकास का स्रोत है। यहाँ व्यवहार से ही सभी सिद्धान्त विकसित हुए हैं। भारतीय जीवन-व्यवस्था किसी आरोपित या ऊपर से थोपी हुई आचार-संहिता पर आधारित नहीं है। नैसर्गिक रूप से विकसित होने के कारण ही भारतीय धर्म-साधना सभी प्रकार की संकीर्णता, कट्टरता, दुराग्रह, भेद-भाव आदि से मुक्त है। भारतीय धर्म-साधना ब्रह्मद्रष्टा ऋषियों की सनातन सत्य पर आधारित मुक्त जीवन-दृष्टि और सदाचारमूलक लोक-व्यवहार से प्रेरित और पोषित होने के कारण अपने स्वरूप में सात्त्विक, समतामूलक और स्वतन्त्र है। इसी लिए भारतीय दर्शन के स्वरूप को समझने के लिए वेदों में व्यक्त लोक-व्यवहार के विविध आयामों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। यहाँ वैदिक लोक-व्यवहार के कुछ प्रमुख पक्षों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

1. ब्रह्मचर्य-व्रत और अनुशासन

सभी ऋषि, ब्रह्मवेत्ता होने के कारण 'ब्रह्मचारी' और 'ब्राह्मण' कहलाते थे। ब्रह्म का आचरण करनेवाला तपस्वी ही 'ब्रह्मचारी' कहलाता था। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी ऋषि को ही 'ब्राह्मण' कहा जाता था। ब्रह्मचर्य एक प्रकार की पवित्र साधना या तपस्या

थी, जिसका आधार था संयम और अनुशासन। ब्रह्मचर्य-व्रत में इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखते हुए सब प्रकार के मैथुनों और विषय-भोगों से विमुख रहते हुए सम्पूर्ण लोक-व्यवहार में पवित्रता का आचरण करना अनिवार्य था। ब्रह्मचर्य का अर्थ व्यापक था। ब्रह्मचर्य-व्रत को 'तप' कहा जाता था। *अथर्ववेद* (11.5) के अनुसार, ब्रह्म से सर्वप्रथम ब्रह्मचारी उत्पन्न हुआ। ब्रह्मचारी ही अपने तपोबल से सब देवताओं और आचार्यों का पालन करता है। देवगण ब्रह्मचारी के समान मनवाले होते हैं। ब्रह्मचर्य की महिमा राष्ट्रीय जीवन में भी व्याप्त रहती है। ब्रह्मचर्य-रूप तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। ब्रह्मचर्य-रूप तप से ही देवताओं ने मृत्यु को नष्ट किया। इन्द्र ब्रह्मचर्य के बल से ही देवताओं के लिए स्वर्ग लाये।

2. रात्र-रक्षा

राष्ट्र-प्रेम की भावना वैदिक लोकजीवन की प्रमुख विशेषता है। प्रखर राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित राष्ट्र-रक्षा की अपूर्व क्षमता के कारण ही वैदिक देवताओं में इन्द्र का नाम सर्वोपरि है। *ऋग्वेद* (2.12) में इन्द्र की रक्षात्मक, आक्रामक, शत्रुघाती, विपुल विजयिनी शक्ति का अत्यन्त ओजपूर्ण ढंग से निरूपण किया गया है। ये वे ही देवराज इन्द्र हैं, जिनकी सहायता के बिना कोई भी योद्धा युद्ध-क्षेत्र में विजय नहीं प्राप्त कर सकता। ये इन्द्र ही हैं, जिन्होंने बल और शम्बर नाम के दुर्दान्त दैत्यों को युद्ध में मौत के घाट उतार दिया था। *ऋग्वेद* (10.173) में ध्रुव नामक आंगिरस (प्रजापति) एक विशिष्ट व्यक्ति को राजा के पद के लिए निर्वाचित करते हुए कहता है, "मैंने तुम्हें राष्ट्र के लिए चुना है। तुम हमारे मध्य स्वामी बनो। दृढ़ और अविचल होकर स्थित रहो। तुम्हारा यह राष्ट्र तुम्हारे हाथ से कभी न निकले।" वह राजा को प्रेरित करते हुए कहता है कि राष्ट्र की उन्नति करो और इन्द्र के समान अडिग रहो। *अथर्ववेद* (3. 19) में एक पुरोहित अपने प्रिय राजा के कल्याण की कामना करते हुए कहता है— "मेरी शुभकामना है कि इनका राष्ट्र श्रेष्ठ वीरों से सम्पन्न और सतत समुन्नतिशील हो। इनका राज्य अमर हो और ये विजयशील बनें।"

वैदिक युग में अनेक छोटे कबीलों या समूहों से एक 'गण' बनता था तथा कई गणों को मिलाकर 'जन' या 'जनपद' (राज्य) बनता था। जनपद का शासक राजा या जनाधिप कहलाता था, जिसका चुनाव बहुमत से होता था। ऐसे ही एक नवनिर्वाचित राजा को आशीर्वाद देते हुए एक ऋषि कहता है— "इन्द्र तुम्हारे राष्ट्र को स्थिरता प्रदान करें और अग्नि भी राष्ट्र को सुदृढ़ बनायें।"

सार-रूप में कहा जा सकता है कि राष्ट्र-प्रेम की भावना वैदिक जीवन की प्रबल प्रवृत्ति है। राष्ट्र-रक्षा की असीम शक्ति से संयुक्त इन्द्र-सरीखे कुशल शासक तो आश्वस्त भाव से जीवनपर्यन्त शासन करते थे, किन्तु राष्ट्र-रक्षा के लिए इन्द्र, अग्नि आदि के भरोसे रहनेवाले शासक अपनी सत्ता खो भी सकते थे। जनता बहुमत से किसी अन्य उपयुक्त पात्र को अपना शासक चुनने के लिए स्वतन्त्र थी।

3. शुभ संकल्पों की महिमा

मनुष्य तन, मन, और आचरण का संयोग है। मन ही वह केन्द्रीय तत्त्व है, जो तन को आचरण में नियोजित करता है। यदि मन शुभ संकल्पोंवाला है, तो वह तन को शुभ कार्यों में ही लगाता है। दुष्ट विचारों से ग्रस्त मन तन को दुराचारों के गर्त में धकेल देता है। इसलिए वैदिक ऋषि प्रभु से सदैव यही प्रार्थना करते हैं कि उनका मन सदैव निर्विकार रहे तथा शुभ विचारों और सद्भावनाओं से प्रेरित रहे। तभी वे पाप-पतन से विमुख होकर आत्मकल्याण और लोककल्याण के कार्यों में संलग्न रह सकेंगे। वास्तव में, शुभ चिन्तन से प्रेरित सत्कर्म ही धर्म कहलाते हैं। अतः धर्म का मूल है शुभसंकल्पी मन।

यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय में 'मनस् देवता' की स्तुति करते हुए ऋषि कहता है कि मेरा अनन्त क्षमताओंवाला मन शुभ संकल्पोंवाला हो। स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि ने मन की असीम शक्ति को ध्यान में रखकर ही उसे 'मनस् देवता' के गौरवमय पद पर प्रतिष्ठित किया है। फिर उसी मन से 'शिवसंकल्प' नाम के ऋषि ने प्रार्थना की है कि मेरा यह मन शुभ संकल्पों से सम्पन्न हो। ऋषि की यह प्रार्थना भी स्वयं उसके 'शिवसंकल्प' नाम की सार्थकता की पुष्टि करती है। शिवसंकल्प ऋषि मन में निहित दिव्य शक्तियों का स्मरण करता हुआ कहता है— "जो उत्तम ज्ञान का स्रोत है, स्मृति और सूझ-बूझ का साधन है, धैर्य धारण करनेवाला है और जो सब मनुष्यों में विद्यमान अमर ज्योति है, जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्पोंवाला हो"—

‘यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥’

—यजुर्वेद, 34.3

शिवसंकल्पों से विभासित ऋषियों-मुनियों, महात्माओं की आध्यात्मिक आभा से ही भारत चिरकाल से भास्वर रहा है। अतीत के महान् गौरव से वंचित

वर्तमान भारत को वेदों में व्यक्त शिवसंकल्पी सन्देश ही सांस्कृतिक पुनर्जागरण की सत्प्रेरणा प्रदान कर सकता है। शिवसंकल्प ही सब प्रकार की समुन्नतियों का स्वर्णद्वार है। आवश्यकता है शुभ संकल्पों के आलोक से दीप्त सांस्कृतिक पुनर्जागरण और राष्ट्रीय रूपान्तरण की। राष्ट्रीय नवनिर्माण में ही लोक-कल्याण निहित है।

4. मानसिक समता, सहयोग और संगठन

वर्तमान भारत में जनतान्त्रिक पद्धति भले ही विदेशों से आयात की गयी हो, किन्तु भारतीय संस्कृति की जड़ें अदृश्य रूप में वैदिक समतामूलक, जनतान्त्रिक जीवन-दर्शन में बहुत गहराई से अनुस्यूत रही हैं। वर्तमान पद्धति में अनेक त्रुटियों के बावजूद, यहाँ जनतन्त्र के भावी उत्कर्ष की सभी सम्भावनाएँ हमारी प्राचीन परम्परा में सहज ही खोजी जा सकती हैं। प्रमाण के लिए ऋग्वेद के एक सूक्त को लीजिये। ऋग्वेद (10.191) के अन्तिम सूक्त का नाम है 'संज्ञान सूक्त'। इसमें कुल चार मन्त्र हैं। 'संज्ञान' का अर्थ है सही अनुभव पर आधारित सम्यक् ज्ञान। इस सूत्र के प्रथम मन्त्र में अग्नि की स्तुति की गयी है। सम्यक् ज्ञान की चर्चा दूसरे मन्त्र से प्रारम्भ होती है। यह दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

‘संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।

देवा भागं यथा पूर्वे संजनाना उपासते ॥’

—ऋग्वेद, 10.191.2

इस मन्त्र का महान् सन्देश है कि 'साथ मिलकर चलो, साथ मिलकर वार्तालाप करो, परस्पर मिलकर अपने मनों को जानो (अर्थात् एक-दूसरे को समझो)। जैसे पुराने समय में देवगण सहमति से यज्ञ-भाग प्राप्त करते थे, वैसे ही तुम भी करो। कुल मिलाकर इस मन्त्र में सहमति, सहयोग और न्यायसंगत, समतामूलक वितरण-व्यवस्था पर बल दिया गया है। तीसरा मन्त्र निम्नलिखित है—

‘समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम् ।

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥’

उक्त मन्त्र का अर्थ है कि 'इनके विचार-विमर्श में सहमति हो, इनकी समिति में मतैक्य हो, मनो में समता हो और चिन्तन में सम्मति हो। मैं तुम सबको समान मन्त्रणा (विचार-विनिमय) के लिए आमन्त्रित करता हूँ। मैं तुम्हारी

सहमतिसूचक आहुति के द्वारा हवन करता हूँ।' इस मन्त्र में प्रयुक्त 'समिति' शब्द 'कमिटी' (committee) का ही मूल संस्कृत-रूप है। इसका अर्थ है 'सहचिन्तन'। वैदिक काल में 'सभा' और 'समिति' जनतान्त्रिक व्यवस्था के ही दो आधारभूत घटक थे। (दे० तीसरा अध्याय)

‘संज्ञान सूक्त’ का अन्तिम मन्त्र इस प्रकार है—

‘समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥’

अर्थात्, ‘हमारे कूतने या जाँचने की विधि समान हो, हमारे हृदय समरस हों, हमारे मन समान हों, जिससे हम साथ-साथ मिलकर रहें ।’

संक्षेप में, वैदिक ऋषि का सारा बल आपसी एकता, सामाजिक सद्भाव, लक्ष्य की समानता और पारस्परिक संगठन पर है। जनतान्त्रिक जीवन-पद्धति का इससे अधिक दिशा-निर्देशक संविधान और क्या हो सकता है! इसमें जनतान्त्रिक जीवन-व्यवस्था का निचोड़ प्रस्तुत किया गया है !

इसी प्रकार *अथर्ववेद* (3.30) में, ‘सामंजस्य सूक्त’ में पारिवारिक और सामाजिक जीवन-व्यवस्था की स्थापना के उद्देश्य से मानसिक सामंजस्य पर विशेष बल दिया गया है। इसमें कहा गया है कि ‘सभी एकजुट होकर सामाजिक कल्याण के कार्यों में जुट जायें और सभी समान मन, समान व्यवहार तथा समान उद्देश्य से प्रेरित हों। पारस्परिक मतभेदों से दूर रहें। सब आपसी स्नेह-सूत्र में बँधे हुए देवताओं की भाँति मिलकर प्रेमपूर्वक रहें। परिवार में पुत्र माता-पिता की आज्ञा मानें तथा भाई-बहिन प्रेमपूर्वक रहें। सभी परस्पर कल्याणी वाणी बोलें ।’

अभेद-दृष्टि पर आधारित इसी व्यावहारिक समत्व-दर्शन का विकसित रूप है वेदान्तदर्शन। इसमें आत्मा-परमात्मा, आत्मा-विश्वात्मा तथा विश्वात्मा-परमात्मा की एकता पर बल देकर एक सार्वभौम, सार्वकालिक जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया गया है, जो ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की सर्वोदयी जीवन-व्यवस्था का सनातन आधार प्रस्तुत करता है। *यजुर्वेद* के चालीसवें अध्याय में दिये गये ‘ईशावास्योपनिषद्’ में कहा गया है— ‘जो मनुष्य सारे प्राणियों को अपनी आत्मा में तथा सारे प्राणियों में अपनी आत्मा को उपस्थित देखता है, वह मनुष्य कभी किसी से घृणा नहीं करता ।’

5. सिद्धान्त और व्यवहार में एकता

ऊपर जिस समता-दर्शन या अभेद-दर्शन के रूप में वेदान्तदर्शन का उल्लेख किया गया है, वही वास्तव में भारत का राष्ट्रीय दर्शन है। इसी वेदान्तदर्शन को जर्मन विद्वान् मोरिज़ विंटरनिट्ज़ (Moriz Winternitz : 1863-1937) ने धरती पर मानव-महिमा का सर्वोच्च सिद्धान्त घोषित किया है— "This is the highest glorification of mankind on earth". यह दर्शन भारतीय धर्म, संस्कृति और इतिहास की आत्मा है तथा मानव-मात्र के जीवन के सिद्धान्त और व्यवहार की पवित्रता का निर्धारक है। यह मानव और मानवता का सनातन आधार-दर्शन है। वेदान्तदर्शन का चरमोत्कर्ष आरण्यकों, उपनिषदों और *गीता* में मिलता है। चारों वेदों से चुने हुए महावाक्य ही वेदान्तदर्शन के आधार हैं, जो मानव और जगत् के जीवन के सिद्धान्त और व्यवहार को दिशा और दृष्टि प्रदान करते हैं।

वास्तव में, परमात्मा ही सच्चिदानन्दस्वरूप परम सत्ता के रूप में मानव और मानवता के सारे सिद्धान्तों और नैतिक मूल्यों का मूल प्रेरणा-स्रोत है। यदि मानव और जगत् परमात्मा से अपनी अभिन्नता या तात्त्विक एकता को समझ जायें, तो उनके सिद्धान्त और व्यवहार या विचार और आचार में भी एकता स्थापित हो सकेगी और अनेक विकारों से बचा जा सकता है। वेदों के महावाक्य मानव और जगत् के जीवन में इसी अभिन्नता का मार्ग प्रशस्त करते हैं। मानव (जीवात्मा), जगत् और ब्रह्म की एकता के निम्नलिखित तीन आयाम वैदिक महावाक्यों के माध्यम से उभरकर आते हैं, जो सिद्धान्त और व्यवहार की एकता के माध्यम हैं। अनेक महावाक्य उपनिषदों में भी दिये गये हैं।

(क) आत्मा-परमात्मा की एकता— ‘अयमात्मा ब्रह्म’ *सामवेद* का महावाक्य है। इसका अर्थ है कि यह आत्मा या मानव ही ब्रह्म है। इसी प्रकार *अथर्ववेद* का महावाक्य भी इसी आशय की पुष्टि करता है। यह महावाक्य है— ‘सोऽहम्’ अर्थात् ‘वह ब्रह्म मैं ही हूँ।’ *यजुर्वेद* का महावाक्य है— ‘तत्त्वमसि’ अर्थात् ‘वह ब्रह्म तुम ही हो’। *बृहदारण्यकोपनिषद्* का महावाक्य ‘अहं ब्रह्मास्मि’ भी आत्मा-परमात्मा की एकता पर प्रकाश डालता है। उक्त सभी महावाक्य जीवात्मा या मानव को ही ब्रह्म घोषित करके उसके सर्वतोमुखी उत्थान की असीम सम्भावनाओं के द्वार खोलते हैं और उसे उसके भीतर परमात्मा का साक्षात्कार कराके उसका सम्बन्ध सनातन सत्य, नैतिक चेतना और दिव्यता के उत्कर्ष से जोड़ते हैं।

सतत सजग नैतिक चेतनावाला व्यक्ति कभी भ्रष्ट या दुराचारी हो ही नहीं सकता। वह सदैव सुमति से संचालित और कुमति के विकारों से मुक्त रहता है।

(ख) ब्रह्म और जगत् की एकता— ऋग्वेद का महावाक्य है— ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’। यही महावाक्य छान्दोग्योपनिषद् में भी दिया गया है। इसका अर्थ है कि ‘निश्चय ही यह सारा जगत् ब्रह्म है, जगत् और ब्रह्म के अभेद की बात पढ़कर हम स्वयं ही सोचने को बाध्य होते हैं कि जब जगत् ही ब्रह्मस्वरूप है, तो फिर छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, छूत-अछूत, देशी-विदेशी का भेद क्यों? निश्चय ही यह वेदान्त-चिन्तन संकीर्णताओं, शंकाओं, दुर्भावों पर कुठाराघात करके मनुष्य को ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ के उच्चादर्श की दिशा में प्रेरित करता है। इससे मानव ‘महामानव’ बनता है। वह सब तुच्छताओं से मुक्त होकर मुक्तात्मा महात्मा बन जाता है।

(ग) आत्मा और जगत् की एकता— छान्दोग्योपनिषद् के एक महावाक्य में आत्मा को ही सम्पूर्ण जगत् बताया गया है— ‘आत्मैवेदं सर्वम्’। इस महावाक्य के अनुसार जीवात्मा और जगत् में अभिन्नता या अद्वैत है। मुक्तात्मा मनुष्य अपनी आत्मा में सारे विस्तार का अनुभव करते हुए मनुष्य मात्र के सुख-दुःख को अपना समझता है और किसी भेद-भाव के बिना स्वदेशी-विदेशी, स्वधर्मी-विधर्मी— सभी की सेवा और सहायता के लिए तत्पर रहता है और परोपकार को ही परम धर्म मानकर पूर्ण तृप्ति का अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति न किसी को धोखा देता है, न किसी का शोषण करता है।

6. रोग, दरिद्रता, पापों, संतापों से मुक्ति

वैदिक ऋषियों की जीवन-दृष्टि स्वच्छ और सकारात्मक थी। जीवन के उल्लासमय, सकारात्मक स्वरूप की रक्षा के लिए आवश्यक था कि उसे रोगों, दरिद्रता, पापों, संतापों आदि से मुक्त रखा जाये। आदर्शों की रक्षा के लिए जीवन के यथार्थ धरातल पर सावधानी आवश्यक थी। यहाँ वैदिक ऋषियों की उस सजगता और सक्रियता पर विचार करना आवश्यक है, जो उनके व्यावहारिक लोक-जीवन में पग-पग पर उजागर होती थी।

आर्यजन शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा को सर्वोपरि महत्त्व देते थे। इस सम्बन्ध में वे औषधीय गुणों से युक्त वनस्पतियों तथा उनके उपयोग में दक्ष वैद्यों का

आश्रय लेते थे। ऋग्वेद (10.97) में एक ऐसे ऋषि का उल्लेख है, जो औषधियों को माता और देवी कहकर सम्बोधित करता है और उनसे अपने रोगी मित्र के रोग-निवारण की प्रार्थना करता है। रोग-निवारण में सूर्यदेव की महत्त्वपूर्ण भूमिका के विषय में आर्यों की गहरी निष्ठा थी। सूर्य से प्राप्त ऊष्मा और ऊर्जा रोगनिवारक मानी जाती थी। रोग-निवारण में मित्रवत् व्यवहार के कारण ही ऋग्वेद (3.59) में सूर्य की ‘मित्र’ नामक स्वतन्त्र देवता के रूप में स्तुति की गयी है तथा उनसे घुटनों के सन्धिवात रोग को दूर करने की प्रार्थना की गयी है। आज भी प्राकृतिक चिकित्सा में वातरोगों के निवारण के लिए प्रातःकालीन सूर्य की धूप के सेवन का विधान है। इसे ‘धूप-स्नान’ कहा जाता है। ऋग्वेद (1.50) में सूर्य से प्रार्थना की गयी है कि वे हृदय-रोग और पीलिया का नाश करें।

आरोग्यविज्ञान में वैदिक ऋषियों की गहरी पैठ थी। वे तन, मन और आचरण के विकारों में गहरा सम्बन्ध मानते थे। वे मानते थे कि मन के ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, कपट, कुण्ठा आदि विकार ही तन के अनेक रोगों के मूल कारण हैं और इनसे ग्रस्त होकर ही मनुष्य अनेक अपराधों, पापों में लिप्त होकर आचरण से भी भ्रष्ट हो जाता है। वे मन की शुद्धता, उदारता, सेवा, दान, परोपकार को ही तन, मन और आचरण के विकारों का उत्तम उपचार मानते थे। ऋग्वेद (10.107) में कहा गया है कि दानी लोगों की आयु बढ़ती है और वे अमरत्व प्राप्त करते हैं। दाता कभी भ्रष्ट, हिंसक नहीं होते और न कभी पीड़ाग्रस्त होते हैं। शुद्ध और सकारात्मक सोच ही सब शारीरिक और मानसिक रोगों की संजीवनी बूटी है। ऋग्वेद (10.117) में कहा गया है कि भूखों और दरिद्रों की अन्न तथा धन से सहायता करनेवाला परोपकारी व्यक्ति सभी दुःखों, संकटों और शत्रुओं से मुक्त रहता है। लोभी, क्रूर, अज्ञानी व्यक्ति व्यर्थ ही सम्पत्ति संचित करता है। यह सत्य है कि ऐसा धन विकास का नहीं विनाश का कारण बनता है। दूसरों को भूखा छोड़कर, जो अकेला ही भोजन करता है, वह तो पूरा पापों का ही ढेर होता है।

संक्षेप में, कुमति और कुविचारों से मुक्ति तथा सुमति और सद्विचारों की पावन प्रेरणा से ही शारीरिक, मानसिक और आचारिक शुद्धता सम्भव है। अपनी तेजस्वी, पोषक और आरोग्यवर्धक किरणों से पापों के नाशक और पुण्यों के पोषक सूर्य भगवान् से यही प्रार्थना की गयी है—

‘विश्वानिदेव सवितुर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव ॥’

—यजुर्वेद, 30.3

अर्थात्, 'हे विश्वदेव सूर्य ! आप (हमारे) पापों को दूर करें। जो कल्याणकारी (विचार या आचार) हैं, उन्हें हमको प्रदान करें।'।

7. सद्गृह, पवित्रता, निर्भीकता और दीर्घायुष्य की कामना

वैदिक आर्यों का जीवन उनके भीतरी भव्य भावों की व्यावहारिक अभिव्यक्ति था। वे भीतर जितने सद्भावी थे, बाहर उतने ही उल्लसित और समुन्नत थे। *अथर्ववेद* का 'गृहमहिमा' सूक्त (3.26) हमारे उक्त कथन की पुष्टि करता है। सूक्तकार ऋषि के अनुसार ये गृह अपने निवासियों के सुख-सन्तोष के ही आधार नहीं हैं, वरन् अतिथियों, पड़ोसियों, मित्रों आदि के आवागमन, प्रीतिभोजों की चहल-पहल के कारण सामाजिक समरसता और सद्भाव के स्रोत बने हुए हैं। ये पारिवारिक जीवन के तथा सामाजिक गतिविधियों के भी केन्द्र हैं। प्रवास में जाने की स्थिति में, सुख-सुविधाओं से भरपूर इन गृहों की याद सदैव सताती रहती है। अन्त में, आवासीय जन अपने सद्गृहों से प्रार्थना करते हैं कि 'हे हमारे गृहो ! तुममें बसनेवाले सब प्राणी सदा रोगरहित और सबल रहें। किसी प्रकार भी उनका हास न हो।' इस प्रकार ये सद्गृह आर्यों के प्रवृत्तिपरक, सकारात्मक जीवन-दर्शन का जीता-जागता उदाहरण पेश करते हैं।

अथर्ववेद के 'पवित्रतासंकल्प' सूक्त (6.19) में शुभ संकल्पों और उनसे प्रेरित शुभ कर्मों की कामना की गयी है। सूक्त के दूसरे मन्त्र में ऋषि पवमान सोम से कामना करता है— 'योग्यता के लिए, बल के लिए, दीर्घ जीवन के लिए तथा अनिष्ट से बचाने के लिए पवमान सोम हमें पवित्र करें।' कुल मिलाकर सूक्तकार ऋषि का विश्वास है कि यदि हमें पवित्रता प्राप्त हो जायेगी, तो हमारे अन्दर योग्यता, बल और दीर्घ जीवन का संचार तो होगा ही, साथ ही पवित्रता के बल पर हम अनेक अनिष्टों और संकटों से भी बचे रहेंगे।

निर्भीकता की कामना भी वैदिक आर्यों की स्वतन्त्र, स्वावलम्बी, सकारात्मक जीवन-पद्धति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। *अथर्ववेद* के सूक्त (2.15) में ऋषि अपने प्राण को ब्रह्माण्ड में व्याप्त सभी निर्भय और अक्षय सत्ताओं से प्रेरणा लेने और उन्हीं के समान निर्भीक और अक्षय बनने की कामना करता है। वह कहता है कि 'जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र न कभी भयभीत होते हैं और न कभी आहत होते हैं, उसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तुम भी सदैव निर्भीक और अनाहत बने रहो। अपने सत्पथ पर न कभी रुको और न ही झुको।'।

दीर्घायु, जीवन की सम्पूर्णता का सन्तोषप्रद आधार है। भले ही मानव अल्पायु में ही आशातीत सफलताएँ प्राप्त कर ले, किन्तु उसके जीवन की अपूर्णता चिर काल तक परिजनों को मर्माहत करती रहती है। भारतीय संस्कृति में सौ वर्ष की आयु को पूर्णायु का स्थायी मानक स्वीकार किया गया है। *यजुर्वेद* (40.2) के अनुसार 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समाः' अर्थात् मनुष्य कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहे। सौ वर्ष की सम्पूर्ण जीवन-यात्रा और भी अधिक सन्तोषप्रद हो जाती है, यदि परिवार में सुयोग्य, सदाचारी सन्तान और आय के साधन भी पर्याप्त सन्तोषप्रद हों। जीवन के इसी व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए *अथर्ववेद* (6.18) में प्रार्थना की गयी है कि 'आदित्य, अग्नि, इन्द्र मुझे सत्सन्तान और धन से सींचें और मुझे दीर्घायु प्रदान करें।'।

8. श्रद्धा और भक्ति

यह तथ्य है कि प्राकृतिक और मानवीय रूप में प्रस्तुत दिव्य शक्तियों के प्रति वैदिक ऋषियों की अगाध श्रद्धा थी। प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ऋषिगण यह जानते और मानते थे कि उनका समूचा जीवन इन्हीं अग्नि, वरुण, सूर्य, पर्जन्य (वर्षा), मरुद्गण आदि दिव्य शक्तियों की जीवनदायी और पोषक क्षमता पर निर्भर है। व्यावहारिक उपयोगिता के आधार पर औषधियों को भी देवता माना गया। औषधियों का समझ-बूझ के साथ सार्थक उपयोग करनेवाले दो वैद्यों के युग्म के रूप में अश्विनीकुमार नामक देवताओं की उद्भावना की गयी। अतः उनके प्रति ऋषियों की श्रद्धा-भक्ति स्वाभाविक ही थी। समूची सृष्टि के कण-कण में व्याप्त सनातन नैतिक चेतना के रूप में 'ऋत' की उद्भावना की गयी और उसकी भी पूजा होने लगी। 'ऋत' की रक्षा के लिए समुद्र और आकाश के देवता वरुण सतत सक्रिय रहते थे। वे पापियों को बन्दी बनाने के लिए 'पाश' या हथकड़ियाँ रखते थे। इन सभी हितचिन्तक देवताओं के प्रति आर्य ऋषियों की गहरी श्रद्धा स्वाभाविक ही थी। अनेक उच्च भावों को भी देवी-देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित किया गया और उनकी पूजा होने लगी। श्रद्धा, वाक्, मेधा आदि की भी पूजा होती थी। इस प्रकार समूचा वैदिकयुगीन वातावरण श्रद्धा-सिंचित और पूजामय था। उनकी भक्ति-भावना नितान्त नैसर्गिक थी। दिव्य सत्ताओं के असंख्य उपकारों के लिए उनके प्रति आभार व्यक्त करने का श्रद्धा-भक्ति से बढ़कर अन्य कोई माध्यम नहीं हो सकता था। अतः वे श्रद्धा देवी से प्रार्थना करते हैं कि हमको श्रद्धा प्रदान करो— 'श्रद्धे ! श्रद्धापयेह

नः' (ऋग्वेद, 10.151.5)। उनका अटल विश्वास था कि सब प्रकार के सुखों का साधन धन श्रद्धादेवी की कृपा से ही सुलभ होता है— 'श्रद्धया विन्दते वसु' (वही, 10.151.4)।

भक्ति-भावना के विराट् स्वरूप में तो देव-भक्ति और मानव-भक्ति एकाकार हो गये हैं। यह क्रान्तद्रष्टा ऋषियों की दिव्य दृष्टि का ही चमत्कार है। तैत्तिरीयोपनिषद् (1.1.2) में कहा गया है— 'देवों के पूजन और पितरों के श्राद्ध में प्रमाद मत करना। माता को देवता मानना। पिता को देवता मानना। आचार्य की देव के समान पूजा करना। अतिथि को देवस्वरूप समझकर उसकी सेवा करना।' कुल मिलाकर भारतीय भक्ति-भावना और धर्म-साधना देव-महिमा के माध्यम से मानव-महिमा के उत्कर्ष के द्वार उद्घाटित करती है और मानव को अपनी मानवता को दिव्यता से दीप्त करने का सन्देश देती है।

प्रस्तुत अध्याय में किये गये आर्य-जीवन के व्यावहारिक पक्षों के विवेचन से स्पष्ट है कि आर्य दिव्य शक्तियों के प्रति गहरी श्रद्धा और भक्ति रखते थे। वे आस्तिक, आशावादी, उत्कर्षोन्मुख, सकारात्मक जीवन-दृष्टि से प्रेरित थे तथा सुखी, सम्पन्न, उल्लासपूर्ण और कर्मठ जीवन जीने में विश्वास रखते थे। ऐसे स्वस्थ, सुखी, सकारात्मक जीवन के लिए शत्रुओं, पापों, रोगों, विघ्नों, निर्धनता, मनोविकारों आदि से जूझना और अपेक्षित साहस और पराक्रम का परिचय देना उनके लिए आवश्यक था। वे इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवताओं में गहरी आस्था, श्रद्धा और भक्ति रखते थे। देवगण उनके विघ्नों, अनिष्टों, रोगों, पापों और शत्रुओं का विनाश करके अपनी दिव्यता का प्रमाण प्रस्तुत करते थे। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक दृष्टि से वे समतामूलक, सहयोगपूर्ण, जनतान्त्रिक पद्धति में आस्था रखते थे। वे व्यावहारिक जीवन में अनीति, अपराध, पापाचार के विरुद्ध थे तथा ऋत या सनातन सत्य और न्याय तथा पुण्यों के पक्षधर थे। वे विरक्ति, उदासीनता, निराशा से दूर थे तथा आस्तिक, आशावादी जीवन-दृष्टि में आस्था रखते थे। उन्होंने कहीं भी लौकिक सुख और भौतिक समृद्धि को माया, मिथ्या कहकर नहीं नकारा। इसके साथ ही वे कभी भी दूसरों का धन हड़पने की कामना नहीं करते थे। वे दूसरों का भी उतना ही कल्याण चाहते थे, जितना आत्मकल्याण। वैदिक जीवन-दृष्टि की केन्द्रीय विशेषता यह है कि यहाँ व्यक्ति और समष्टि, आत्मा और परमात्मा, लौकिक और अलौकिक में अभेद है। इस अभेद-दृष्टि का प्रेरणा-स्रोत है वेदान्तदर्शन। 'वेदान्त' चिन्तन या दर्शन के क्षेत्र में भारतीय ऋषियों की अनुपम देन है। यह मानव-महिमा का महत्तम

सिद्धान्त है। यहाँ सारी अलौकिकता या दिव्यता लौकिकता और भव्यता के उत्कर्ष के प्रति सक्रिय और सचेष्ट है तथा सारी लौकिकता और भव्यता अलौकिकता और दिव्यता के प्रति समर्पित है। प्रेय और श्रेय का समागम ही भारतीय धर्म-साधना की मौलिक विशेषता है।



दूसरा अध्याय

भारतीय धर्म-साधना की मौलिक विशेषताएँ

भारतीय धर्म-साधना प्रकृति की देन है। अतः यह अपने स्वरूप में नितान्त नैसर्गिक है, कृत्रिम या आरोपित नहीं। यह प्राकृतिक बाहर से भी है और भीतर से भी। बाहरी मुक्त प्राकृतिक परिवेश ही वैदिक ऋषियों की जन्मस्थली और कर्मस्थली था। प्रकृति के अनन्त उपकारों को स्मरण करके वे उसमें दिव्यता के दर्शन करते थे और उसकी पूजा में हवन-यज्ञ करते थे। इसी दिव्य प्रकृति ने उनकी भीतरी प्रकृति को विकसित और प्रेरित किया था। उनकी भीतरी प्रकृति में जो कुछ था, वह बाहरी प्रकृति द्वारा प्रदत्त पुरस्कार था। अतः ऋषियों के अंतःकरण में बाहर-भीतर का कोई भेद नहीं था। वे बाहरी प्रकृति और अंतःप्रकृति में, जड़ और चेतन में एक ही परम तत्त्व के दर्शन करते थे। वे आत्मा और जगत् में एक ही परमात्मा का साक्षात्कार करते थे। ऋषियों की यह अभेद-दृष्टि ही भारतीय धर्म-साधना का सनातन स्रोत और आधार है। इसी मूल अभेद-दृष्टि से भारतीय धर्म-साधना की मौलिक विशेषताओं का उदय और विकास हुआ है। प्रस्तुत अध्याय में भारतीय धर्म की इन्हीं मौलिक विशेषताओं पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

1. लौकिकता और आध्यात्मिकता परस्पर पूरक

वैदिक ऋषियों की दृष्टि, ब्रह्मनिष्ठ होने के कारण आध्यात्मिक थी। किन्तु उनका भौतिकतापरक, लोकनिष्ठ दृष्टि और लोकजीवन से कोई टकराव नहीं था। इसके

विपरीत, सत्य तो यह है कि वे दोनों दृष्टियों को परस्पर पूरक और सहयोगी मानते थे। उनकी सारी आध्यात्मिकता लोक-कल्याण के प्रति समर्पित थी। उनकी दृष्टि में, बाहरी प्रकृति और अंतःप्रकृति का, लौकिकता और आध्यात्मिकता का, भव्यता और दिव्यता का पारस्परिक समन्वय था।

वैदिक ऋषियों का यह अभेदवादी चिन्तन आरण्यकों, उपनिषदों और गीता में वेदान्तदर्शन के रूप में विकसित हुआ। उपनिषदों में बाह्य, लौकिक और भौतिक ज्ञान को अपराविद्या (या अविद्या) तथा आध्यात्मिक ज्ञान या ब्रह्मज्ञान को पराविद्या (या विद्या) कहा गया है। ईशावास्योपनिषद् (11) में ब्रह्म से व्याप्त जगत् को भी आत्मा-परमात्मा की भाँति सत् माना गया है। अतः जो मनुष्य विद्या और अविद्या— दोनों को साथ-साथ जान लेता है, वह अविद्या (लौकिक ज्ञान) से अपने लोकजीवन को सार्थक सिद्ध करता हुआ मृत्यु को सहर्ष पार करता है तथा विद्या या आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करता हुआ अमरत्व को प्राप्त होता है—

‘विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायामृतमश्नुते ॥’

स्पष्ट है कि प्रकृतिमाता की आन्तरिक ऊर्जा विद्युत-प्रकाश में या आणविक ऊर्जा में प्रकट होती है, तो संस्कृतिमाता की आन्तरिक आभा आध्यात्मिक आलोक या आत्मा-परमात्मा की दिव्य ज्योति में अनुभव होती है। वैदिक ऋषियों ने जड़ और चेतन की इन ऊर्जाओं का आभास अत्यन्त प्राचीन काल में ही पा लिया था। आधुनिक गणितशास्त्र में अनन्त (infinity) में से अनन्त को घटाने या अनन्त को अनन्त से गुणा करने या भाग देने पर भी परिणाम अनन्त ही रहता है, उसी प्रकार ईशोपनिषद् के अनुसार पूर्ण ब्रह्म में से (ब्रह्मयुक्त) पूर्ण जगत् को निकाल लेने पर भी वह परब्रह्म पूर्ण ही रहता है—

‘पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते’

निष्कर्ष यह है कि भारतीय जीवन-दृष्टि लोक और परलोक, स्थूल और सूक्ष्म, ज्ञान और विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति में अभेद मानती है तथा सकारात्मक होने के कारण दोनों को ही उपयोगी और मूल्यवान् समझती है। भारतीय जीवन-दृष्टि आध्यात्मिक होते हुए भी विज्ञानसम्मत है। साथ ही यहाँ विज्ञान भी आध्यात्मिकता से संस्कारित और अनुशासित है। अध्यात्मप्रेरित विज्ञान कभी

विनाशकारी नहीं हो सकता। वह अध्यात्म की आँखें पाकर मंगल-मार्ग में ही अग्रसर होता है। भौतिकता की दौड़ में अन्धे आधुनिक विज्ञान को जड़ और चेतन, स्थूल और सूक्ष्म, भौतिकता और अध्यात्म में अभेद माननेवाली यह ऊर्ध्वमुखी, भारतीय जीवन-दृष्टि निश्चय ही युद्ध के उन्माद को उकसानेवाले भीषण विनाशकारी यन्त्रों के निर्माण की होड़ से विमुख होने का सन्देश देती है।

2. प्रकृति और पर्यावरण की उपासना

वैदिकयुगीन जीवन और संस्कृति का विकास प्रकृति और पर्यावरण के नैसर्गिक सम्पर्क से हुआ। परिवेशगत प्रकृति और मानव-प्रकृति (Human nature) के सम्पर्क से ही वैदिक धर्म और संस्कृति का उदय हुआ। वस्तुतः वैदिक धर्म प्राकृतिक है। प्रकृति ही मानव-प्रकृति में ढलकर संस्कृति में रूपान्तरित हुई है। इसलिए भारतीय संस्कृति में प्रकृति का महत्त्व उतना ही है, जिनता मानव-प्रकृति का।

प्रकृति के ही ज्ञेय और अज्ञेय रूपों के सम्पर्क से वैदिक ऋषियों के अंतःकरण में अनेक कोमल और कठोर या सुखद और दुःखद अनुभूतियों का उदय हुआ। मोहक और विराट् दृश्यों को देखकर प्रेम, श्रद्धा, पूजा, विस्मय आदि भावों का उदय हुआ, तो भीषण और विकराल दृश्यों के सम्पर्क से भय, शंका, संत्रास, पीड़ा आदि का उन्मेष हुआ। उस समय प्रकृति ही आर्यों की पालक-पोषक थी, अन्य संसाधनों का अभाव था। प्रकृति के उपकारों के प्रति आभारी आर्यों के लिए पर्यावरण की यथासम्भव रक्षा करना तथा प्रकृति के प्रति गहन आस्था, श्रद्धा और पूजा का भाव बनाये रखना उनका प्राथमिक कर्तव्य था। वे प्रकृति के मंगलकारी रूप के तो पुजारी थे ही, साथ ही प्रकृति के प्रकोपों से बचने के लिए, वे प्रकृति के भीषण रूपों की भी उपासना करते थे।

ऋषियों को अन्न, फल, जल, वायु, प्रकाश आदि सभी पोषक तत्त्व प्रकृति से सहज सुलभ थे। ऐसी दयालु, रहस्यमयी, पोषक प्रकृति में उन्हें दिव्यता के दर्शन होते थे। वे अग्नि, जल, पवन, सूर्य, उषा, चन्द्रमा आदि को 'देवता' के रूप में पूजते थे। उपासक ऋषिगण और उपास्य प्रकृति के मध्य सम्बन्ध-सूत्र के रूप में 'यज्ञ' की उद्भावना की गयी। यह यज्ञ की अनूठी उद्भावना ही भारतीय धर्म और संस्कृति के विकास का मूल स्रोत है। ऋषिगण घृत और अन्य सुगन्धित सामग्रियों की आहुतियाँ यज्ञ-कुण्ड में डालने के साथ मन्त्रोच्चारण के माध्यम से विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ उनके पास प्रेषित करते थे। इस प्रकार यज्ञ वह पावन सम्बन्ध-सेतु था, जिसके

माध्यम से ऋषिगण अपनी पुनीत प्रार्थनाएँ विभिन्न देवी-देवताओं के चरणों में निवेदित करते थे। आर्यगण समृद्धि, उल्लास, उत्कर्ष और आनन्द से पूर्ण जीवन जीने की कामना करते थे। इसीलिए वे यज्ञ के माध्यम से देवताओं से अनेक पुत्र, गायें, प्रचुर अन्न, विपुल शक्ति, साहस, स्वास्थ्य, विजय आदि प्रदान करने की कामना करते थे। साथ ही वे देवगण से यह भी प्रार्थना करते थे कि उन्हें रोगों, भयों, संकटों, शत्रुओं, विघ्नों से सदैव मुक्त रखें। ऋग्वेद (10.97.2) में स्तोता ऋषि प्रार्थना करता है, “हे माता वनस्पतियो ! तुम्हारे सैकड़ों स्थान हैं और सहस्रों विस्तार हैं। तुममें शक्तियाँ और क्रियाएँ हैं। मेरे इस रोगग्रस्त साथी को रोगमुक्त कर दो।” यहाँ उल्लेखनीय है कि भारतीय संस्कृति में अनेक लताओं-वृक्षों को भी देवता माना जाता है। यहाँ पीपल को विष्णु के प्रतीक के रूप में पूजा जाता है, तो वटवृक्ष को शिव का प्रतीक मानकर पूजा जाता है।

प्रकृति, मानव-प्रकृति और संस्कृति का जैसा प्रगाढ़ सम्बन्ध भारतीय धर्म-साधना में देखने को मिलता है, वैसा अन्य किसी भी देश में नहीं है। प्रकृति और मानव-प्रकृति का गहन भावात्मक या रागात्मक सम्बन्ध ही भारतीय धर्म-साधना की विशिष्ट पहचान है। वस्तुतः यह भी सनातन-धर्म की सनातनता का एक प्रमुख आयाम है।

3. राष्ट्रीय और वैश्विक चेतना का संगम

भारतीय मनीषा जितनी गहनता और उत्कर्ष में आस्था रखती है, उतनी ही विस्तार में। हमारी सब सीमाएँ असीमता की ओर उन्मुख हैं और सब बन्धन मुक्ति की ओर। भारतीय धर्म की पहचान उदारता और आत्मविस्तार है, कट्टरता या संकीर्णता नहीं। यहाँ राष्ट्रीयता विश्वप्रेम या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का ही अंग है। ऋषियों का विश्वास है कि संकीर्णता में दुःख है और विस्तार में आनन्द है। अतः कहा गया है कि आत्मविस्तार ही सुख है— 'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छांदोग्योपनिषद्, 7.23.1)। इस 'भूमा' या व्यापक वैश्विक चेतना की प्राप्ति ही भारतीय धर्म-साधना का परम लक्ष्य है जहाँ जाति, वर्ण, वर्ग, राष्ट्र की सब सीमाएँ पीछे छूट जाती हैं और अखण्ड 'मानवतावाद' के दर्शन होते हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है, राष्ट्र-प्रेम विश्वप्रेम का ही अभिन्न अंग है। परिवार, समाज, राष्ट्र के स्तरों पर कर्तव्यों को बन्धन न मानकर, धर्म मानते हुए जो व्यक्ति विश्वबन्धुत्व के स्तर तक उठता है, वही बन्धनों के बीच मुक्ति के द्वार पर

पहुँचता है— ‘विश्वप्रेम-बन्धन में साथी ! मुझको मिला मुक्ति का द्वार ।’ वास्तव में, इन मधुर बन्धनों के बिना किसी मुक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब बन्धन ही नहीं, तो मुक्ति कैसी ! जो तथाकथित वैरागी लौकिक दायित्वों को बन्धन मानकर पर्वतों की गुफाओं में मुक्ति खोजते हैं, उन्हें वह जंगली मुक्ति भयानक बन्धन बन जाती है। अन्ततः ऐसे पलायनवादी जीवनभर पछताते हैं। वस्तुतः कर्तव्यपालन ही धर्म है। कर्तव्य से विमुखता अधर्म है।

ऋग्वेद (8.24.27) में सिन्धु आदि सात नदियों के ‘सप्तसिन्धवः’ क्षेत्र को ही आर्यभूमि माना गया है। इसमें पाँच ‘जन’ या क्षेत्र सम्मिलित बताये गये हैं। इसलिए यह पूरा क्षेत्र ‘पाञ्चजन्य’ कहलाता था। प्रत्येक ‘जन’ उपखण्डों में विभाजित था, जो ‘गण’ कहलाते थे। ऋग्वेद में देश-प्रेम के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। ऋग्वेद (10.191) के अन्तिम तीन मन्त्रों में समता, सहयोग, संगठन पर आधारित सामूहिक राष्ट्रीय चेतना के जनतान्त्रिक स्वरूप के विकास की कामना की गयी है। ऋग्वेद (10.173.3) में इन्द्र आदि सभी देवताओं से प्रार्थना की गयी है कि वे राष्ट्र का पूरी शक्ति से विकास करें— ‘इन्द्रः च अग्निः च ते रात्रं ध्रुवं धारयन्ताम्’। यही राष्ट्रीय जागरण की भावना राष्ट्रनायकों (पुरोधाओं) की ओर से यजुर्वेद (9.23) में भी व्यक्त की गयी है। वे राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित होकर संकल्प करते हैं— ‘वयं रात्रे जागृयामः पुरोहिताः’ अर्थात् हम सब राष्ट्रनायक, राष्ट्र के हित के लिए सजग रहें। यजुर्वेद (22.22) में शूरवीर योद्धाओं, दुधारु गायों, वर्षा करनेवाले मेघों, फलदायी वृक्षों, वनस्पतियों तथा सभी प्रकार की सृष्टियों की कामना की गयी है।

अथर्ववेद के ‘पृथिवीसूक्त’ को विश्वप्रेम और राष्ट्र-प्रेम के अद्भुत उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ विश्व का भरण-पोषण करनेवाली तथा नैसर्गिक शोभा से सम्पन्न समूची पृथिवी को ही ‘मातृभूमि’ कहा गया है। यद्यपि पूरे सूक्त में राष्ट्रभूमि भारत के नाम का भी उल्लेख नहीं है, तथापि यज्ञ, वेदी, अग्नि, सूर्य, पर्जन्य, इन्द्र, प्रजापति (ब्रह्मा), श्री (भूदेवी), लक्ष्मी, विष्णु आदि पदों के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि अभेददर्शी वैदिक ऋषि की अखण्ड चेतना में सारी पृथिवी और भारतभूमि अभिन्न ही तो है। प्रस्तुत सूक्त में आतंकवादी, अत्याचारी दुष्टों और शत्रुओं के तत्काल सर्वनाश को सुरक्षा-संकट की समस्या का सनातन समाधान माना गया है। तभी तो ऋषि ने धरती माता से प्रार्थना की है कि अपने निवासियों की रक्षा के लिए वह शत्रुओं का तत्काल सर्वनाश करे, जिससे कि कोई

दुष्ट कभी द्वेष का दुःसाहस न करे।

विष्णुपुराण में भी विश्व-प्रेम और राष्ट्र-प्रेम की समन्वित झाँकी प्रस्तुत की गयी है। विष्णुपुराण (2.2) में विश्व के भूगोल का विवरण प्रस्तुत करते हुए सात समुद्रों से घिरे हुए जम्बू, प्लक्ष, शात्मल, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर नामक सात द्वीपों तथा जम्बूद्वीप में स्थित केतुमालवर्ष, भद्राक्षवर्ष, हरिवर्ष आदि नौ वर्षों (भूभागों) का उल्लेख करने के उपरान्त अगले अध्याय (2.3.24) में भारतवर्ष की महिमा का वर्णन करते हुए अन्त में कहा गया है कि अन्य देश भोगभूमियाँ हैं, जबकि भारतवर्ष को कर्मभूमि होने के कारण ‘स्वर्गभूमि’ कहलाने का गौरव प्राप्त है, जहाँ निष्काम कर्मयोगी मानव मुक्तात्मा होकर प्रभु में लीन हो जाते हैं। देवगण भी इस देश में जन्म लेकर स्वयं को धन्य समझते हैं। विष्णुपुराण में भारत की स्वर्गिक महिमा के उल्लेख के साथ ही विष्णु के ‘विश्वरूप’ को भी दर्शाया गया है— ‘विश्वरूपेण सर्वत्र सर्वः सर्वत्रगो हरिः’ (2.2.51) अर्थात् विष्णु सर्वमय, सर्वगामी हैं और विश्वरूप में सर्वत्र व्याप्त हैं।

श्रीमद्भागवतपुराण में भी विष्णुपुराण का ही अनुसरण करते हुए पाँचवें स्कन्ध के सोलहवें अध्याय से लेकर बीसवें अध्याय तक सात द्वीपों और जम्बूद्वीप में स्थित वर्षों का विस्तृत विवरण दिया गया है तथा उन्नीसवें अध्याय में भारतवर्ष की महिमा का विस्तार से निरूपण किया गया है। भारत के गौरव-गान के सन्दर्भ में स्वयं देवगण कहते हैं, ‘जिन जीवों ने भारतवर्ष में भगवान् विष्णु की सेवा के योग्य मानव-जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य कर्म किया है ! अथवा इन पर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं। इस परम सौभाग्य के लिए तो निरन्तर हम भी तरसते रहते हैं’—

‘अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।

यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवोपयिकं स्पृहा हि नः ।’

स्पष्ट है कि हिन्दू-धर्मसाधना ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ के उदात्त आदर्श पर प्रतिष्ठित है। यहाँ राष्ट्रीय चेतना और वैश्विक चेतना का अनूठा संगम रहा है। चाणक्यनीति (10.14) में तो तीनों लोकों को ही ‘स्वदेश’ बतलाया गया है— ‘स्वदेशो भुवनत्रयम्’।

4. वैदिक ज्ञान की अलौकिकता (अपौरुषेयता)

वेदभूमि और देवभूमि भारत में धर्म, संस्कृति, साहित्य की त्रिवेणी वेदों से प्रवाहित हुई है। 'वेद' शब्द विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ है ज्ञान। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद नामक चार वेदों के साथ ही अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, उपनिषद्, नीतिग्रन्थ, स्मृतिग्रन्थ, पुराण भी भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रेरणास्रोत हैं।

चारों वेद 'संहिता' कहलाते हैं, क्योंकि इनमें अनेक ऋषियों के द्वारा रचित मन्त्र संकलित हैं। यद्यपि मूलतः वैदिक संहिताएँ अनेक ऋषियों के ही सामूहिक सत्प्रयास से रची गयी हैं, तथापि वे स्वयं को मन्त्रों का स्रष्टा नहीं मानते। 'ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः' के अनुसार वे स्वयं को केवल मन्त्रों का द्रष्टा ही मानते हैं। उनका विश्वास है कि परम सत्ता की कृपा से ही दिव्य ज्ञान से आपूरित ऐसे अनूठे, महान् मन्त्रों का उन्हें अपने अंतःकरण में केवल साक्षात्कार या दर्शन ही हुआ है। उन्होंने उसी प्रत्यक्ष अनुभूति को केवल लिपिबद्ध कर दिया है। निश्चय ही यह आस्था ऋषियों की असीम महिमा की परिचायक है। ऐसा कहकर उन्होंने स्वयं को मन्त्रद्रष्टा या रचनाकार होने के दम्भ से सहज भाव से मुक्त कर लिया है। यह मुक्तचेतना ऋषियों को स्वभाव से ही प्राप्त है। यश की लौकिक लिप्ता से ऊपर उठने के कारण उनकी दृष्टि आध्यात्मिक है।

मन्त्र का अर्थ है रहस्यमय, अलौकिक या गूढ़ ज्ञान। ज्ञान की दिव्यता या अलौकिकता के कारण ही वेदों को 'अपौरुषेय' या दिव्य ज्ञान का ग्रन्थ कहा गया है। वेदों में प्राकृतिक और लौकिक तथ्यों का भी उल्लेख कम नहीं है; किन्तु कुल मिलाकर सार्वजनिक, सार्वभौमिक, लोकोत्तर या उदात्त, तत्त्वों या सत्त्यों की ही प्रमुखता है। यह सनातन, विश्वमंगलकारी चिन्तन ही हमारी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चिति है।

यह उल्लेखनीय तथ्य है कि वैदिक ज्ञान की अपौरुषेयता या अलौकिकता में भी दिव्यता के साथ लौकिकता का अद्भुत समन्वय घटित हुआ है। ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों में प्रमुखतम है पुरुषसूक्त। इसमें परम सत्ता परमेश्वर को ही 'पुरुष' कहा गया है। पुरुष को हजारों शीश, हजारों आँखों, हजारों हाथ-पैरोंवाला बताया गया है। वह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। सम्पूर्ण सृष्टि का विकास इसी विराट् पुरुष से हुआ है। स्पष्ट है, यहाँ जगत् पुरुष या परमात्मा से उत्पन्न होने के कारण सत् है,

मिथ्या नहीं। यहाँ लोक और लौकिक जीवन का मूल स्रोत परमेश्वर को बताया गया है तथा इस प्रकार सृष्टि की महत्ता को स्वीकार किया गया है। ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि 'पुरुषसूक्त' में भारतीय धर्म-साधना की कई प्रमुख प्रवृत्तियों के स्रोत निहित प्रतीत होते हैं। यहाँ निराकार या निर्गुण परम सत्ता सगुण या साकार रूप में प्रकट हुई है। अतः निर्गुणोपासना और सगुणोपासना के स्रोत यहाँ विद्यमान हैं। ब्रह्म और जगत् की अभिन्नता के कारण यहाँ उस वेदान्तदर्शन के भी स्रोत निहित हैं, जिसका विकास उपनिषदों और गीता में हुआ है। परम सत्ता के सहस्रों शीशों, आँखों, हाथ-पैरोंवाले पुरुषाकार-रूप में, गीता के ग्यारहवें अध्याय में दर्शाये गये भगवान् कृष्ण के उस विराट् विश्वरूप-दर्शन के प्रेरणा-स्रोत भी निहित प्रतीत होते हैं, जिसमें असंख्य स्त्री-पुरुष, जीव-जन्तु, लता-वृक्ष, लोक-परलोक आदि उनके असीम आकार में एकत्र दिखलायी पड़ते हैं। अपौरुषेय परम सत्ता का पुरुषाकार ग्रहण करना वैदिक जीवन-दृष्टि की सकारात्मकता का द्योतक है। इसमें मानव-महिमा, लोक-महिमा, आत्मोत्कर्ष और विश्व-मंगल का उन्मेषकारी पावन उद्देश्य निहित है। अवतारवाद की प्रवृत्ति के स्रोत भी यहाँ मिलते हैं।

पुरुष और अपौरुषेय सत्ता तथा लौकिकता और अलौकिकता का चिर सम्बन्ध भारतीय धर्म-साधना की केन्द्रीय विशेषता है। ऋषिगण कर्तापन का श्रेय अपौरुषेय सत्ता को सौंपकर उस असीम में अटल आस्था और विश्वास व्यक्त करते हैं और निष्काम मनोदशा में पहुँचकर मुक्ति के आनन्द में लीन हो जाते हैं, तो अपौरुषेय सत्ता भी मानव के समान सगुण और साकार रूप में पुरुषाकार होकर मानव के लिए गोचर, ग्राह्य, संवेद्य और बोधगम्य होना चाहती है। परम सत्ता के प्रति यह आस्था और आस्तिकता प्रवृत्तिमूलक, आशावादी, उल्लासमय, निष्काम और मुक्त जीवन-दर्शन की आधारशिला है। यहाँ नास्तिक, नकारात्मक, अनास्थावादी, भौतिक जीवन-दृष्टि के दुष्परिणामों के प्रति भी प्रकारान्तर से सचेत किया गया है।

5. ऋत के रूप में सनातन सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा

वैदिक ग्रन्थों में प्रकृति और मानव-प्रकृति को नियमित और नियन्त्रित करनेवाला एक ही शाश्वत सिद्धान्त है, जिसे 'ऋत' कहा गया है। ऋत के नियन्त्रण में ही प्रकृति में ऋतुओं के आने-जाने का क्रम व्यवस्थित रूप में चलता रहता है। सत्य का अनुसरण करनेवाले सदाचारी व्यक्ति अपने मन और स्वभाव में सत्य और न्याय की सनातन चेतना को धारण करने के कारण 'ऋतम्भरा प्रजा' से प्रेरित माने जाते हैं।

वेदों में सारी विश्व-व्यवस्था का संचालन करनेवाली 'ऋत' नामक नैतिक चेतना के संरक्षक होने का श्रेय वरुण देवता को दिया गया है। वे ऋत के रक्षक ('गोपा ऋतस्य') हैं। ऋग्वेद (7.84.4) के अनुसार वे अनीति और असत्य के विनाशक हैं। सत्य के रक्षक के नाते वरुण प्रत्येक प्राणी की गतिविधियों पर पैनी दृष्टि रखते हैं। वे एक सजग न्यायाधीश की भाँति दुष्टों और दुराचारियों को दण्डित करते हैं तथा पुण्यात्मा सदाचारियों को पुरस्कृत करते हैं। वे अपराधियों को बन्दी बनाने के लिए हाथ में पाश या जंजीर रखते हैं। अथर्ववेद (4.16.6) के अनुसार ऋषि वरुण से प्रार्थना करता है, 'हे वरुण, तुम्हारे जो जाल की तरह फैले हुए पाश हैं, वे अनृत (असत्य) बोलनेवाले को बाँध लें और सत्यवादी को मुक्त कर दें।' ऋग्वेद (9.73.1) के अनुसार सुकर्मी जन को सत्य की नाव भवसागर से पार लगाती है— 'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्'। वस्तुतः जीवन में सत्य का अनुसरण गहरी निष्ठा और विश्वास से ही सम्भव है। यजुर्वेद (19.30) के अनुसार श्रद्धा से सत्य का साक्षात्कार सम्भव है— 'श्रद्धया सत्यमाप्यते'।

अपनी मूल प्रकृति में न्याय-नीति और सत्य का मार्ग सहज सरल और स्वाभाविक होता है। इसमें किसी तर्क, वितर्क या कुतर्क के हेर-फेर नहीं होते। ऋग्वेद (8.31.13) के अनुसार 'सुगा ऋतस्य पन्थाः' अर्थात् सत्य का पथ चलने में सुगम है। किन्तु सन्मार्ग सरल हृदयवाले सत्कर्मी सज्जनों के लिए ही सुगम है, दुराचारियों के लिए नहीं। पापात्मा दुष्कर्मी सच्चाई की राह का पार नहीं पा सकते। ऋग्वेद (9.73.6) में कहा गया है कि 'ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः' अर्थात् दुराचारी सत्य के मार्ग में गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता। अतः अमंगलकारी पाप से विमुख होकर मंगलकारी पुण्यों की दिशा में ही उन्मुख होना सदा सुखदायी होता है। इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर ऋषि अथर्ववेद (7.120.4) में कहता है— 'रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्या पापीस्ता अनीनशम्' अर्थात् पाप की कमाई को मैंने नष्ट कर दिया है, पुण्य से अर्जित लक्ष्मी शोभा बढ़ाये। यह अनुभूत सत्य है कि ईमानदारी की कमाई ही सही अर्थ में लक्ष्मी है, जो उद्योगी को सुख-समृद्धि प्रदान करती है। पाप की कमाई तो स्वयं पापी को ही खा जाती है। यह तो सर्वनाश की जड़ है।

वैदिक जीवन-व्यवस्था या विचार-आचार का सम्पूर्ण ताना-बाना ऋत या शाश्वत नैतिक चेतना से अनुशासित है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में 'धूतकार सूक्त' में एक जुआ खेलनेवाले कुमतिग्रस्त व्यक्ति का बड़ा ही रोचक और शिक्षाप्रद प्रसंग है।

उसकी जुआ खेलने की आदत से तंग आकर उसके परिजन उससे घृणा करने लगते हैं। जुए में धन गँवा बैठने के कारण उसे चोरी करने की लत भी लग जाती है। वह स्वयं भी अपनी करतूतों से तंग है। परिवार और समाज के बहिष्कार से पीड़ित होकर वह चिन्ता और चिन्तन में लीन हो जाता है और सत्य का साक्षात्कार करता है। वह सविता (सूर्यदेव) द्वारा प्रत्यक्ष दर्शाये गये सत्य का उद्घोष करते हुए कहता है— "जुआ मत खेलो। खेती करो। उससे प्राप्त धन को बहुत समझो और उसी में आनन्द करो।"

इसी धूतकार सूक्त का प्रभाव आगे चलकर प्रसिद्ध महाकाव्य महाभारत पर पड़ा। महाभारत में जुआ खेलने के दुष्परिणाम को बहुत व्यापक और मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। वहाँ दुर्योधन के मामा शकुनि द्वारा रचे गये जुए के माया-जाल में फँसकर पाण्डव अपनी पत्नी द्रौपदी-सहित सर्वस्व हार जाते हैं तथा युद्ध में दोनों ही पक्षों की भारी क्षति होती है।

ऋत या सत्य की प्रतिष्ठा की यह अखण्ड परम्परा भारतीय धर्म-साधना और संस्कृति की महती विशेषता है। यहाँ सत्य और ब्रह्म को पर्याय माना गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (5.14.4) के अनुसार वह परमात्मा सत्य में ही निवास करता है— 'तत्सत्ये प्रतिष्ठितम्'। महर्षि वाल्मीकि ने रामायण के अयोध्याकाण्ड (109.13) में लिखा है कि जगत् में सत्य ही ईश्वर है, सत्य पर ही धर्म सदा आधारित है। सत्य ही सबका मूल है, सत्य से बढ़कर अन्य कोई शब्द नहीं है—

‘सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।

सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥’

6. वेदान्तदर्शन और आध्यात्मिकता की महिमा

भारतीय धर्म और संस्कृति का मूल आधार है वेदान्तदर्शन। वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों में क्रमशः विकसित होता हुआ वैदिक चिन्तन उपनिषदों तक आते-आते अपनी अन्तिम सीमा अर्थात् पराकाष्ठा पर पहुँच गया। वैदिक चिन्तन के अन्त अर्थात् अन्तिम सीमा तक पहुँच जाने के कारण ही उपनिषदों के चिन्तन को 'वेदान्त' कहा जाता है। जर्मन विद्वान् मोरिज़ विंटरनिट्ज़ ने इस वेदान्त-चिन्तन को 'मानव-महिमा का सर्वोच्च सिद्धान्त' कहा है। वेदान्तदर्शन में मानव (आत्मा) और परमात्मा को एक या अभिन्न बताया गया है। मानव को ब्रह्मस्वरूप बताकर उसे उसकी आन्तरिक दिव्यता का दर्शन कराया गया है तथा उसकी अनन्त सत्ता और

महत्ता का बोध कराया गया है। ‘अहं ब्रह्मास्मि’ अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ या ‘अयमात्मा ब्रह्म’ अर्थात् यह आत्मा ही ब्रह्म है, आदि महावाक्यों द्वारा मानव की ब्राह्मीस्थिति या निहित दिव्यता का साक्षात्कार अथवा अनुभव कराया गया है। ऐसा आत्मज्ञानी व्यक्ति ही ब्रह्मज्ञानी होता है। वह कुमति के कुचक्र में नहीं फँसता। वह अपराधों, पापाचारों से मुक्त रहता है। माया के बन्धन उसे नहीं बाँध सकते। बन्धनग्रस्त व्यक्ति भी अपने मूल दिव्य स्वरूप को पहचानकर उनसे पीछा छुड़ा सकता है; किन्तु यह तभी सम्भव है, जब आत्मज्ञान द्वारा उसकी भीतरी आँखें खुल जायें। आत्मज्ञान द्वारा पतित-से-पतित पापाचारी भी माया-मुक्त होकर महान् पुण्यात्मा और मर्यादापुरुषोत्तम हो सकता है।

वेदान्तदर्शन व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है। यह एक विश्वव्यापी, सार्वभौमिक और सार्वकालिक चिन्तन है। वेदान्त के अनुसार आत्मा ही परमात्मरूप नहीं है, वरन् यह सारा विश्व भी ब्रह्मस्वरूप है। ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ अर्थात् ‘यह सारा जगत् ब्रह्म है’ महावाक्य के अनुसार सारा जगत् ब्रह्मस्वरूप और दिव्य है। इस महावाक्य में विश्व-मंगल का महान् सन्देश निहित है। ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में इस महावाक्य के व्यावहारिक आशय को समझाया गया है। इस मन्त्र में कहा गया है कि इस जगत् के सब प्राणियों में ईश्वर का निवास है। अतः जगत् के सभी प्राणियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखना चाहिए तथा वस्तुओं का त्यागपूर्वक उपभोग करना चाहिए तथा किसी अन्य की सम्पत्ति के प्रति लिप्सा नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि यह धन तो आने-जानेवाला होने के कारण किसी का नहीं है—

‘ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥’

यदि इस समतावादी, त्यागमूलक, सर्वोदयी जीवन-दृष्टि को अपनाया जाये, तो सम्पूर्ण विश्व सभी घपलों-घोटालों से मुक्त होकर ‘स्वर्गभूमि’ बन सकता है।

वेदान्त में आत्मा-परमात्मा, ब्रह्म और जगत् के अभेद या अद्वैत के साथ ही तीसरा अद्वैत है आत्मा और जगत् का। ईशावास्योपनिषद् (मन्त्र 6) में कहा गया है कि जो मनुष्य जगत् के सब प्राणियों में अपनी आत्मा तथा अपनी आत्मा में सब प्राणियों की आत्मा के दर्शन करता है, वह कभी किसी से घृणा नहीं करता—

‘यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥’

इससे मिलती-जुलती बात ही मनुस्मृति (12.125) में कही गयी है कि जो मनुष्य सब प्राणियों में अपनी आत्मा से आत्मा (सब प्राणियों की आत्मा तथा परमात्मा) को देखता है, वह सभी की एकता को देखता है, वह सब की समता को अनुभव करके परम ब्रह्मपद को प्राप्त करता है—

‘एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।

स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥’

भगवद्गीता (11.16) में तो विश्वेश्वर भगवान् कृष्ण असंख्य मुखों, आँखों, हाथों, पैरों, जीवों, लता-वृक्षों से युक्त होकर जो ‘विश्वरूप’ धारण करते हैं, उसमें वेदान्त की वैश्विक एकता और समता की यह अवधारणा बिल्कुल साकार रूप में प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ने लगती है। वस्तुतः गीता हमारा राष्ट्रीय ग्रन्थ है, तो वेदान्त हमारा राष्ट्रीय दर्शन। वेदान्त में परमात्मा की महिमा के माध्यम से मानव और जगत् को भी महिमा का मार्ग दिखलाया गया है। सकारात्मक, आशावादी, समतावादी, मंगलकारी, उत्कर्षकारी होने के कारण वेदान्तदर्शन मानव-महिमा का सर्वोच्च सिद्धान्त है। तभी तो गीता (15.15) में भगवान् कृष्ण वेदों का ज्ञाता तथा वेदान्त का कर्त्ता होने में गर्व और गौरव की अनुभूति करते हुए घोषित करते हैं— ‘वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्’ अर्थात् मैं वेदान्तकर्त्ता और वेदविज्ञ हूँ।

वेदान्तदर्शन ही अध्यात्म और आध्यात्मिक जीवन का आधार है। ‘अध्यात्म’ अधि-आत्म से निर्मित है। ‘अधि’ का अर्थ है प्रधान और आत्म का अर्थ है आत्मा। जिसमें भौतिकता पर आत्मा की प्रधानता या आधिपत्य हो, वह अध्यात्म है। वेदान्त अज्ञान से प्रेरित माया से उत्पन्न भौतिक विषयों के प्रति आसक्तियों से मुक्ति का मार्ग बतलाता है। भौतिक लिप्साओं पर आत्मज्ञान से प्रेरित निष्काम भावना और मुक्ति-चेतना की विजय-पताका फहराने के कारण वेदान्त-दृष्टि मूलतः आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि है। यह आत्मकल्याण और विश्व-कल्याण का व्यावहारिक जीवन-दर्शन है। अतः यह राष्ट्र-दर्शन के साथ ही विश्व-दर्शन भी है। यह मनुष्यमात्र को उद्धार, उत्थान और कल्याण का मार्ग दिखाता है। यह भारतीय मनीषा की सर्वोच्च उपलब्धि है।

7. सगुणोपासना और मूर्ति-पूजा की महिमा

मनुष्य स्वयं निर्गुण और सगुण का संगम है। निराकार आत्मा ही शरीरधारी रूप में सगुण और साकार होती है। मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में भी निर्गुण और सगुण का संगम है। मनुष्य के विचार निराकार हैं, वे ही वचनों और कर्मों का रूप लेकर साकार हो जाते हैं। वचनों और कर्मों के रूप में व्यक्त होने के कारण ही मनुष्य को 'व्यक्ति' कहा जाता है। यदि सद्बचन और सत्कर्म को ही पूजा, उपासना या धर्म कहा जाये, तो मनुष्य स्वभाव से ही सगुणोपासक और धार्मिक प्राणी है।

अमूर्त आत्मा का शारीरिक सम्मूर्तन होने के कारण मनुष्य साकार और सगुण है तथा एक जीती-जागती, चलती-फिरती मूर्ति ही है। मानवाकार में मूर्ति की धारणा निराधार नहीं है। *मनुस्मृति* (2.226) में बिल्कुल सही बात कही गयी है। मनु कहते हैं— आचार्य ब्रह्म की मूर्ति है, पिता ब्रह्मा की मूर्ति है, माता पृथिवी की मूर्ति है तथा भाई तो अपनी ही आत्मा की मूर्ति है—

‘आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।

माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥’

स्पष्ट है कि मनुष्य की प्रकृति अदृश्य को दृश्य, अमूर्त को मूर्त, अव्यक्त को व्यक्त, निराकार को सगुण-साकार देखने के पक्ष में है। इसीलिए मानव निर्गुण ब्रह्म की साधना से तृप्त नहीं होता। किसी अवतार या देवी-देवता के रूप में सगुण की उपासना ही उसे अभीष्ट तृप्ति प्रदान करती है। उसकी इन्द्रियाँ और मन सगुण और साकार के रमणीय रूप में रमते हैं और परमानन्द की अनुभूति करते हैं। वस्तुतः सगुणोपासना में मन और इन्द्रियों को रमने के लिए एक सुगढ़, सुहाना, आकर्षक आधार मिलता है। हिंदी के महान् कृष्णभक्त कवि सूरदास (1478-1573) ने तो 'अविगत' अर्थात् अज्ञात निराकार ब्रह्म की उपासना को अस्वाभाविक और असम्भव ही घोषित कर दिया है। उनका नितान्त तर्कसम्मत मत इस प्रकार है—

‘अविगत गति कछु कहत न आवै ।

रूपरेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालंब मन चक्रित धावै ।

सब विधि अगम बिचारहि ताते, सूर सगुन लीला पद गावै ॥’

महाकवि सूरदास की धारणा है कि निराकार ब्रह्म के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। रूप, रेखा, गुण, जाति (मनुष्य, पक्षी आदि) युक्ति (उपाय) आदि से रहित होने के कारण मन निराधार इधर-उधर चक्कर काटता रहता है। अतः सब प्रकार पहुँच से बाहर समझकर सूरदास निर्गुण ब्रह्म से पल्ला झाड़कर लोकरंजनकारी,

मुरलीधर कृष्ण की सरस लीलाओं के पद गाने का मार्ग ही श्रेयस्कर मानते हैं। स्पष्ट है कि भगवान् के मानवाकार रूप में मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से रमती हैं और तृप्ति तथा आनन्द का अनुभव करती हैं। निर्गुण ब्रह्म का ध्यान तो असम्भव है, क्योंकि ध्यान के लिए प्रत्यक्ष आधार या आलम्बन आवश्यक है। निराधार मन शून्य में भटकता रहता है। वेदान्तविद् स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) के अभिमत से कविवर सूरदास के उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है— “मेरे भाइयो ! मन में किसी मूर्ति के आये बिना कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है, जितना कि श्वास लिये बिना जीवित रहना” ।

कबीर (1398-1518) बुद्धि या ज्ञान के स्तर पर ही निर्गुणोपासक हैं। उनके भावपूर्ण और प्रभावपूर्ण पद या दोहे तो वे ही हैं, जिनमें वह निराकार ब्रह्म सगुण-साकार होकर पति, माता, पिता या स्वामी के रूप में प्रेमानुभूति का विषय बनकर प्रस्तुत होता है। भावना तो प्रेम-पात्र के प्रति ही समर्पित होती है। यहाँ सगुणोपासना के कुछ अनुभूतिपूर्ण उत्तम नमूने प्रस्तुत हैं—

1. **सखी री गावहु मंगलचार ।**

हमारे घर आये राजा राम भरतार ॥

2. **हरि मोरो पीऊ, मैं तो राम की बहुरिया ।**

3. **बिरहिन ऊठै भी पड़ै, दरसन कारन राम ।**

मूए पाछे देहुगे, सो दरसन केहि काम ॥

4. **हरि जननी, मैं बालक तोरा ।**

5. **कबीर कूता राम का, मोती मेरा नाउँ ।**

गले राम की जेबड़ी, जित खींचे तित जाउँ ॥

बनारस में 'कबीर-चौरा' पर कबीर की प्रतिमा स्थापित है। कहावत है कि जादू तो वह है, जो सिर चढ़ कर बोले। सचमुच सगुणोपासना का जादू भारत ही नहीं, पूरे विश्व-मानस पर छाया हुआ है। चित्र, फोटो, मूर्ति, स्मारक, कब्र, मकबरे आदि की पूजा, मुहर्रम के समय ताज़िये निकालना, हज-यात्रा के समय काले पत्थर का बोसा (चुम्बन) लेना, पीर, पैगंबर, रसूल, फ़रिश्ते के प्रति सज़दा (नमन), गले में क्रॉस-चिह्न धारण करना आदि अनेकानेक रूपों में सगुणोपासना और मूर्ति-पूजा का प्रचलन है। मलेशिया और विशेषतः इण्डोनेशिया नामक मुस्लिम देशों में तो शिव जी और हनुमान् जी के अनेक मन्दिर हैं। वहाँ ये इष्टदेव के रूप में पूजे जाते हैं। सूफियों

के दो सम्प्रदाय— हुलूली और हल्लाजी— अवतारवादी और सगुणोपासक हैं।

अचरज की बात तो यह है कि अवतारवाद और मूर्ति-पूजा के रूप में प्रचलित सगुणोपासना के विरोध में उठ खड़े होनेवाले मत भी आगे चलकर सगुणोपासना में पूरी तरह रमते हुए दिखलायी पड़ते हैं। सबसे पहले जैन और बौद्ध मतों ने पूरे दल-बल के साथ अवतारवाद और मूर्तिपूजा का खुलकर खण्डन किया था। किन्तु कुछ शताब्दियों बाद ही जैन मत के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तथा महात्मा बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया। गुप्तकालीन भागवतधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ *विष्णुपुराण*, जिसका सम्भावित रचना-काल चौथी शताब्दी है, में महात्मा बुद्ध को विष्णु के अवतारों में स्थान मिलते ही, बौद्धमत के अंतर्गत रचित जातककथाओं में भी बुद्ध को अवतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। *‘दशरथजातक’* में तो बुद्ध भगवान् को राम का ‘पुनरावतार’ माना गया है। *श्रीमद्भागवतपुराण* (5.3.20) में ऋषभदेव को विष्णु के अवतार के रूप में गौरवान्वित किया गया है। कनिष्क के युग में बौद्धों के महायान सम्प्रदाय में तो बुद्ध भगवान् को उपास्य मानकर एक विराट् भक्ति-आन्दोलन चल पड़ा। बौद्ध मठों और विहारों में बुद्ध की मूर्तियाँ स्थापित की गयीं। ध्यानमग्न बुद्ध की प्रतिमाओं की मनोहरता अद्भुत थी। इन्हीं के बल पर बौद्ध धर्म ने विश्व-धर्म का रूप ले लिया। बुद्ध-भक्ति का प्रभाव मध्येशिया, खुरासान, अफगानिस्तान आदि देशों तक व्याप्त हो गया। दसवीं शती में बुखारा बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र बना। वहाँ वर्ष में दो बार मेला लगता था। असंख्य मूर्तियाँ विकती थीं। इन मूर्तियों को अरबी भाषा में ‘बुद्द’ तथा फ़ारसी में ‘बुत’ कहा जाता था। ‘बुत’ वास्तव में बुद्ध का ही बिगड़ा हुआ रूप है। स्पष्ट है कि बुद्धपरस्ती (बुद्ध की पूजा) से ही ‘बुतपरस्ती’ शब्द बना और ‘मूर्ति-पूजा’ के सामान्य अर्थ में प्रचलित हो गया। आज भी पूरे विश्व में संख्या में सबसे अधिक और आकार में सबसे विशाल प्रतिमाएँ भगवान् बुद्ध की ही मिलती हैं।

प्रथम सिख गुरु बाबा नानक देव (1469-1539) द्वारा चलाया गया निराकारवादी सिख पन्थ दशम गुरु गोविन्द सिंह (1666-1708) तक पहुँचकर समय की माँग के अनुरूप ‘खालसा पन्थ’ के रूप में ढलकर सगुणोपासक हो गया। राष्ट्रनायक, शौर्यपुरुष गुरु गोविन्द सिंह को समकालीन मुगल-सम्राट् औरंगज़ेब (1659-1707) के अत्याचारों से जूझना पड़ा। यह तो स्पष्ट ही है कि युद्ध में निर्गुण-निराकार तो लड़ नहीं सकता। वहाँ तो कोई सगुण-साकार गोविन्द (कृष्ण/गुरु गोविन्द) ही जूझ सकता है। गुरु गोविन्द सिंह ने अपने काव्य

‘*कृष्णावतार*’ में गोविन्द (कृष्ण) के रूप में स्वयं को युद्ध में उतारा है। उन्हें कंस की सेना में अन्य सैनिकों के साथ अपने समकालीन मुस्लिम सैनिक अज़ाद खाँ, गौतम खाँ, शेर खाँ, सैद खाँ, जाफ़र खाँ, मीर खाँ, जाहर खाँ, दिलावर खाँ आदि से जमकर टक्कर लेनी पड़ती है। यहाँ पौराणिक कल्पना पर, अनुभव किया हुआ प्रत्यक्ष यथार्थ सवार हो गया है, जो नितान्त स्वाभाविक है। अनुभूति का सत्य तथ्यों से बहुत ऊपर होता है। गुरु गोविन्द सिंह ने अनुभूति के स्तर पर, अनेक बार अपने अन्दर अकाल पुरुष, चण्डी, राम को भी अवतरित होते हुए अनुभव किया था। *‘कृष्णावतार’* के अतिरिक्त उनकी *‘चण्डीचरित्र’*, *‘रामावतार’*, *‘चउबीस अवतार’* आदि रचनाएँ भी सगुणोपासना से सम्बन्धित हैं। ये सभी उनके *‘दशमग्रन्थ’* में संकलित हैं।

सगुणोपासना ईश-महिमा के माध्यम से मानव के व्यावहारिक जीवन को दिव्यता से मण्डित करने का उत्तम माध्यम है। महर्षि वाल्मीकि के अनुसार धर्म सदा सत्य पर आश्रित है— **‘सत्ये धर्म सदाश्रितः’**। किन्तु संस्कृति सत्य पर केन्द्रित धर्म को ‘शिवम्’ और ‘सुन्दरम्’ से जोड़कर मनोरम, मंगलमय और रोचक रूप प्रदान करती है। इस सांस्कृतिक दृष्टि को अपनाने पर सारी दिव्यता या अलौकिकता लौकिकता पर न्योछावर हो जाती है। गुरु, माता, पिता आदि सामान्य मानव के स्तर से उठकर अनूठी भव्यता और दिव्यता से मण्डित दिखायी पड़ने लगते हैं। वे परम आदरणीय और पूज्य बन जाते हैं। गुरु की महिमा का यह दिव्य रूप कितना अभिनन्दनीय और वन्दनीय प्रतीत होता है—

‘गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।

गुरु साक्षात्परब्रह्मः तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥’

मानव ही ईश्वरीय रूप नहीं ग्रहण करता, वरन् ईश्वर भी मानवीय रूपों में प्रकट होकर प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ने लगता है। दिव्य दृष्टि मिलते ही माता, पिता, भाई, मित्र, विद्या, धन आदि सभी में परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं—

‘त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेवः ॥’

‘**सत्यं शिवं सुन्दरम्**’ तथा शील, शक्ति से संयुक्त धर्म का लोक-व्यवहार पर आश्रित यह सांस्कृतिक स्वरूप बहुरंगी और बहुआयामी है। यह भारतीय लोक-जीवन को अनेक उत्सवों, मेलों, त्योहारों, तीर्थों, तीर्थयात्राओं, पूजा-पद्धतियों, सभा-सम्मेलनों आदि से सुसज्जित करके अनूठे आकर्षण से भर देता है।

बहुदेवोपासना, अवतारवाद, मूर्ति-पूजा आदि हिंदू-धर्म और भारतीय संस्कृति की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उसे निराकारवादी या एकेश्वरवादी धर्मों से अलग आभा और शोभा प्रदान करती हैं। निराकारवादी धर्म भी निराकार 'गॉड' को पिता या 'फ़ादर' मानते हैं और एक ही पिता की सन्तान होने के कारण सभी मनुष्यों को आपस में भाई मानते हैं। मुस्लिम लोग 'खुदा' को शासक और स्वयं को खुदा का 'बन्दा' मानते हैं। बन्दे का कर्म है खुदा की बन्दगी (वन्दना) करना। यह हाकिम और गुलाम का रिश्ता है। इसमें ईसाइयत के बराबर स्वतन्त्रता नहीं है। किन्तु भारतीय वेदान्त के जनतान्त्रिक चिन्तन से प्रभावित सूफ़ी मुसलमान खुदा को 'माशूक' और स्वयं को आशिक मानते हैं। वे लौकिक माशूक में भी खुदा का जलवा (नूर या प्रकाश) देखते हैं। इस सम्बन्ध में हज़रत फ़ना कानपुरी फ़रमाते हैं—

‘ये बुतों की मुहब्बत भी क्या चीज़ है !

दिल्लगी दिल्लगी में खुदा मिल गया ।’

भारतीय धर्म-साधना में अवतारों और देवी-देवताओं की आकृतियों और मूर्तियों की संरचना में उच्च मानव-मूर्त्यों, आदर्शों या सन्देशों का बड़े ही कौशल से समावेश किया गया है, जिससे उनके दर्शन से मनुष्य मात्र को उत्थान, उत्कर्ष की प्रेरणा प्राप्त हो सके। नन्दी बैल पशुता का प्रतीक है। पशुता पर सवारी (नियंत्रण) करनेवाले शिव इसीलिए 'पशुपति' कहलाते हैं और शिवत्व या लोक-मंगल के देवता हैं। उनके मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा मानसिक शीतलता और सौम्यता का प्रतीक है तथा जटाओं से प्रवाहित गंगा पवित्रता की प्रतीक है। लोक-मंगल की साधना के लिए मन की सौम्यता और पवित्रता नितान्त आवश्यक है। लोक-मंगल के लिए अमंगलकारी तत्वों का विनाश भी अनिवार्य है। अतः शिव को अपना प्रलयकारी रुद्र-रूप भी प्रकट करना पड़ता है, जिसका प्रतीक है उनके मस्तक के मध्य में विद्यमान तीसरा विस्फोटकारी नेत्र, जो पशुता से प्रेरित दुष्टों और उनके दुराचारों को नष्ट करते समय ही खुल पड़ता है। इसी प्रकार अन्य देवी-देवता भी मंगलकारी मानव-मूर्त्यों और आदर्शों के प्रतीक हैं। देव-प्रतिमाओं की इसी प्रतीकात्मक प्रवृत्ति की महिमा पर प्रकाश डालते हुए प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् आर्थर शॉपेनहॉएर (Arthur Schopenhauer : 1788-1860) ने हिन्दू धर्म-साधना में प्रचलित मूर्ति-पूजा के वास्तविक उद्देश्य को उजागर करते हुए लिखा है कि 'हिन्दू लोग मूर्तिपूजक नहीं हैं, वे मूर्ति में निहित आदर्श विचार की पूजा करते हैं' ('Hindus are not idol-worshippers, they worship the idea behind the idol.')

इतिहास द्वारा सिद्ध सत्य यह है कि चौथी से छठी शती तक व्याप्त गुप्त-काल में अवतारवाद, सगुणोपासना और मूर्ति-पूजा पर आधारित भागवत-सम्प्रदाय (वैष्णव सम्प्रदाय) को 'राजधर्म' के रूप में अपनाया गया। गुप्त-सम्राट् 'परमभागवत' कहलाते थे। भागवत-सम्प्रदाय की उदारता और उत्कर्ष ने 'गुप्त-काल' को इतिहास का 'स्वर्ण-काल' कहलाने का गौरव प्रदान किया, तो भागवत-सम्प्रदाय के महाउत्थान में तत्कालीन राजाओं और प्रजाजन का ऐतिहासिक योगदान रहा। धर्म और इतिहास का यह समन्वित उत्कर्ष सगुणोपासना और मूर्ति-पूजा पर लगाये जानेवाले सब आक्षेपों को निरस्त कर देता है। स्पष्ट है कि सुमति पर कुमति की प्रधानता होने पर तो कोई भी उत्तम अभियान पतन के गर्त में गिर सकता है। किन्तु यह भी इतिहास-सिद्ध तथ्य है कि शासकों और प्रजाजन की सुमति सगुणोपासना को महिमा के उत्कर्ष पर पहुँचा सकती है। सुमति से प्रेरित और पोषित सगुणोपासना सुमति को भी दिव्यता से दीप्त करके उत्थान की पराकाष्ठा तक पहुँचा देती है।

संक्षेप में, हिन्दू-धर्म ही ऐसा धर्म है, जो सिद्धान्त और व्यवहार— दोनों दृष्टियों से निराकारवादी भी है और सगुणोपासक भी। निर्गुणोपासना सिद्धान्त-पक्ष है, तो सगुणोपासना व्यवहार-पक्ष। निर्गुणोपासना सूक्ष्म और अमूर्त है, तो सगुणोपासना स्थूल और मूर्त है। निर्गुणोपासना दुर्गम और अप्रत्यक्ष है, तो सगुणोपासना सुगम और प्रत्यक्ष है। मूर्ति-पूजा निर्गुणोपासना और सगुणोपासना को संयुक्त करनेवाली समन्वयवादी, व्यावहारिक, स्वाभाविक, मानवानुरूप उपासना-पद्धति है, अतः विश्वव्यापी है। यदि भक्त सद्भावों और सत्कर्मों से अपने इष्टदेव की उपासना करते हैं, तो देवता भी निश्चय ही उनके मंगल का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वास्तव में, यह आत्मोत्थान की ही नितान्त मनोवैज्ञानिक पद्धति है, जिसमें पूज्य और पुजारी एकाकार हो जाते हैं। यह मन या आत्मा द्वारा आत्मोद्धार का ही मार्ग है। *गीता* (3.11) में भगवान् कृष्ण देवोपासना की महिमा पर प्रकाश डालते हैं और देवताओं तथा उनके उपासकों की पारस्परिक कल्याण-कामना की व्यावहारिक उपयोगिता पर बल देते हैं। वे कहते हैं कि "तुम लोग यज्ञ के द्वारा देवताओं को उद्बोधित करो और देवगण तुम्हारा कल्याण करें तथा दोनों परस्पर कल्याण के सूत्र में गुँथे रहें।"



तीसरा अध्याय भारतीय धर्म-साधना का स्वरूप

जै सा कि पहले भी उल्लेख किया गया है, भारतीय धर्म-साधना की मूल आत्मा वेदान्तदर्शन है। इसका सैद्धान्तिक आधार है आत्मा, परमात्मा और जगत् की अभिन्नता। अतः भारतीय धर्म-साधना सैद्धान्तिक स्तर पर नैतिक और आध्यात्मिक है। वेदान्त की अभेद-दृष्टि के कारण ही यह मानवमात्र की एकता, समता और स्वतन्त्रता की पोषक है। यह अपने नैसर्गिक रूप में सार्वभौम, सार्वकालिक और सनातन है। निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किये गये विवेचन के द्वारा इसके गहन और व्यापक स्वरूप को समझने का प्रयास किया जा रहा है।

1. धर्म : अर्थ और परिभाषा

‘धर्म’ शब्द संस्कृत की ‘धृ’ धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ है धारण करना या धारण किया जाना। इस प्रकार इसका अर्थ दोहरा है। अपने ‘धारण करना’ अर्थ के अनुसार धर्म वह है, जो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र या विश्व की व्यवस्था को धारण करता है। दूसरे अर्थ ‘धारण किया जाना’ के अनुसार, धर्म वह आचार-संहिता है, जिसे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र आदि के द्वारा धारण या ग्रहण किया जाता है। अपने व्यावहारिक रूप में धर्म में ‘धारण’ की उपर्युक्त दोनों ही प्रक्रियाएँ एकसाथ निहित रहती हैं। लोगों के द्वारा आचार-संहिता के रूप में धारण किये जाने पर ही धर्म लोक-जीवन को धारण करके उसे व्यवस्थित और अनुशासित रूप देता है और उसके

सुधार और उद्धार के द्वार खोलता है। इस प्रकार धर्म का मूल उद्देश्य है मानव, लोक और विश्व का उत्थान और कल्याण। अतः धर्म का ग्रहण, पालन और रक्षण प्रत्येक मनुष्य, समाज और राष्ट्र का पावन कर्तव्य है। यदि हम धर्म को स्वेच्छा से अपनायेंगे और उसका पूरी निष्ठा से पालन करेंगे, तो बदले में निश्चय ही, धर्म हमारी रक्षा और उद्धार करेगा। यदि हम अज्ञान, आलस्य या प्रमाद के वशीभूत होकर धर्म की रक्षा और पालन नहीं करेंगे, तो निश्चय ही धर्म भी नष्ट होकर हमारे पतन और विनाश का कारण बनेगा। *महाभारत* (वनपर्व, 313.128) में इसी बात को बहुत ही प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है—

‘धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

तस्माद्धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥’

अर्थात्, ‘धर्म विनष्ट किये जाने पर विनष्ट करता है और रक्षा किये जाने पर रक्षा करता है। अतः मैं धर्म को नहीं त्यागता हूँ, जिससे वह विनष्ट किया हुआ धर्म मुझे न मार डाले।’

स्पष्ट है कि धर्म वह सदाचार-संहिता है, जो मानव और समाज के लिए मंगलकारी होने के कारण धार्य अर्थात् धारण करने योग्य है। धारण किये जाने पर ही यह जीवन-व्यवस्था का धारक सिद्ध होता है। धर्म वह धारणा है, जो अपने स्वरूप में धार्य भी है और धारक तथा उद्धारक भी है। *महाभारत* (कर्णपर्व, 69.58) में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि धारण करने के कारण ही यह धर्म कहलाता है। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण से सम्बन्धित हो, वही धर्म है, यह निश्चित है—

‘धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।

यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥’

संक्षेप में, धर्म एक उत्कर्षकारी सदाचार-संहिता है। दुराचार से अपकर्ष या पतन होता है, जो विनाश की जड़ है। इसलिए मनुष्य में सत्-असत् को जानने की क्षमता होनी अनिवार्य है। अच्छे-बुरे या सत्-असत् का अन्तर समझने की क्षमता को ही ‘विवेक’ कहा जाता है। विवेकसम्मत सदाचार-संहिता ही धर्म है।

2. धर्म और विवेक

धर्म एक विवेकसम्मत, सुव्यवस्थित जीवन-पद्धति है। विवेक ज्ञान से प्रेरित सजग

बौद्धिक चेतना है, जो मनुष्य को कुमति से मुक्त करके सुमति की ओर उन्मुख करती है। अज्ञानी और अविवेकी व्यक्ति कुमति-प्रसूत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद से ग्रस्त होकर पशुतुल्य जीवन जीता है। इसके विपरीत ज्ञानी और विवेकी व्यक्ति दया, करुणा, परोपकार, देश-भक्ति आदि सद्भावों और सद्गुणों के आधार पर देवतुल्य सच्चे इन्सान का आदर्श जीवन जीते हैं। आचार्य चाणक्य ने अपने ग्रन्थ 'चाणक्यनीति' (17.17) में लिखा है कि धर्म ही वह प्रमुख तत्त्व है, जो मनुष्य को पशु से भिन्न सिद्ध करता है। धर्महीन मनुष्य तो पशुतुल्य ही है—

‘आहारनिद्राभयमैश्वर्यं सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समानाः ॥’

अर्थात्, 'खाना-पीना, सोना, भय, सम्भोग आदि क्रियाएँ पशुओं और मनुष्यों में समान हैं। धर्म ही मनुष्यों में पशुओं से बढ़कर है। धर्म के बिना तो मनुष्य पशु के ही समान है।'।

परिवर्तनशील परिस्थितियों में विवेक की भूमिकाएँ भी अपने विशिष्ट रूपों में प्रकट होती हैं। अवसर के अनुरूप सच्चा विवेकशील व्यक्ति अपने काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों का भी सदुपयोग करता है और उन्हें तामसिकता से उठाकर सात्त्विक रूप प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, जब गुण्डों के शिकंजे में फँसी कोई अबला 'बचाओ-बचाओ' चीख रही हो, तो सच्चा विवेकी व्यक्ति तमाशबीन बनकर नहीं खड़ा रहता, वरन् क्रोध के आवेश में अपनी जान हथेली पर रखकर दुराचारियों पर टूट पड़ता है और उसे दुष्टों से मुक्त कराके ही दम लेता है। ऐसा करते समय उसे प्राणों से भी हाथ धोना पड़ सकता है। स्पष्ट है कि उसका यह सात्त्विक क्रोध निश्चय ही वन्दनीय है। इसी प्रकार विवेकी व्यक्ति अन्य मनोविकारों को भी सत्त्व गुणों से सुवासित कर सकता है। उदाहरणार्थ कामवासना राम के प्रति समर्पित होकर 'उपासना' बन जाती है। अहंकार राष्ट्र के प्रति समर्पित होकर स्वदेशाभिमान या राष्ट्र-गौरव का सात्त्विक रूप ग्रहण करता है।

जिस प्रकार विवेकी व्यक्ति तामसिक पञ्चविकारों का भी लोकसेवार्थ सात्त्विक रूप में सदुपयोग करता है, उसी प्रकार कुमतिग्रस्त, अविवेकी व्यक्ति भी सत्प्रवृत्तियों का स्वार्थ-सिद्धि के लिए दुरुपयोग करता है। अनेक महाठग आत्मीय, हितैषी, समाजसेवी होने का नाटक रचकर भले लोगों से लाखों रुपये ठगकर चम्पत हो जाते हैं। कई ढोंगी साधु-संन्यासी उपासना की आड़ में वासना-पूर्ति करते पाये

जाते हैं। धर्म के नाम पर अधर्म करनेवालों से सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। धर्म के नाम पर जितने तन्त्र-मन्त्र प्रचलित हैं, उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही वांछित है।

अर्थ और काम से जुड़ी विकृतियों पर बाहरी नियमों और क़ानूनों के प्रतिबन्धों से एक सीमा तक ही सफलता मिल सकती है। इसके लिए आवश्यकता है पूरे समाज के मानसिक परिष्कार और रूपान्तरण की। समूचे राष्ट्रीय विवेक को झकझोरने और जगाने की आवश्यकता है। सच्चा विवेकी पण्डित वही है, जो परायी स्त्रियों को माता के समान तथा पराये धन को पत्थर के समान और सब प्राणियों को अपने समान समझता है—

‘मातृवत्परदाराणि परद्रव्याणि लो वत् ।

आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥’

—पंचतंत्र, मित्रभेद, कथा 19, श्लोक 435

3. धर्म और नैतिक मूल्य

सामाजिक आचार-व्यवहार के निर्धारक नियमों को ही नैतिक मूल्य कहा जाता है। इनके पालन से व्यक्ति की सामाजिक महत्ता, कीमत या मूल्यवत्ता बढ़ जाती है। इसीलिए अर्थशास्त्र का 'मूल्य' शब्द समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी धड़ल्ले से प्रयुक्त होता है। 'नैतिक मूल्य' लोक-व्यवहार के उन्नायक और निर्धारक आदर्शों के लिए प्रचलित पारिभाषिक शब्द है।

जीवन का स्वरूप द्वन्द्वात्मक है। कुमति-सुमति, दुराचार-सदाचार, विकृति-संस्कृति का द्वन्द्व सनातन है। अतः नैतिक मूल्य भी नकारात्मक-सकारात्मक रूप में मिलते हैं। अहिंसा, अस्तेय नकारात्मक जीवन-मूल्य हैं, तो दया, क्षमा, सत्य आदि सकारात्मक मूल्य हैं। सुमति से प्रेरित सदाचार के पथ पर अग्रसर होने के लिए कुमति-प्रसूत दुराचार से बचे रहना अनिवार्य है। 'नीति' शब्द संस्कृत की 'नी' धातु से बना है। इसका अर्थ है आगे ले जाना, मार्ग दिखाना या नेतृत्व करना। 'नय' और नेता शब्द भी 'नी' धातु से निर्मित हैं। 'नय' शब्द भी 'नीति' का पर्यायवाची है। कुमार्ग से विमुख करके, सन्मार्ग पर आगे बढ़ानेवाले नियम, सिद्धान्त या आदर्श ही 'नैतिक मूल्य' कहे जाते हैं। इन्हीं को 'जीवन-मूल्य' भी कहा जाता है।

परिवार, समाज और राष्ट्र को सत्पथ पर अग्रसर करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति और पूरे समाज की नैतिक मूल्यों में अविचल आस्था वांछनीय है। राष्ट्र-बोध

और आत्मबोध की अभिन्नता ही सच्चा समता-बोध है। यही मूल्य-बोध का स्थायी आधार है। *विष्णुधर्मोत्तरपुराण* (3.253.44) में कहा गया है— ‘धर्म का मूल तत्त्व सुन लो और सुनकर ग्रहण भी कर लो। स्वयं को अप्रिय और प्रतिकूल लगनेवाले व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करने चाहिये—

‘श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥’

आचार्य मनु ने नैतिक मूल्यों को ही धर्म के लक्षण माना है और धर्म की एक सर्वसम्मत, सर्वग्राह्य अवधारणा प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है—

‘धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम् ॥’

—मनुस्मृति, 6.92

अर्थात्, ‘धैर्य, क्षमा, मन को वश में रखना, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों का संयम, सद्बुद्धि, ज्ञान, सत्य, क्रोध न करना— ये धर्म के दस लक्षण हैं।’ इन लक्षणों में चोरी न करना, क्रोध न करना, इन्द्रियों पर नियंत्रण, मन को वश में रखना नकारात्मक हैं तथा शेष सकारात्मक हैं। इसी प्रकार के नैतिक मूल्य *याज्ञवल्क्यस्मृति* (1.122) में भी दिये गये हैं—

‘अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया क्षान्ति सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥’

वास्तव में, ‘आचारः परमो धर्मः’ के अनुसार सुमति-प्रेरित सदाचार ही धर्म है तथा कुमतिप्रेरित दुराचार ही अधर्म है।

4. नैतिक मूल्य और अध्यात्म

ऊपर जो धर्म और नैतिक मूल्यों का विवेचन किया गया है, उसमें सर्वत्र धर्म और नैतिक मूल्यों का स्वरूप शुद्ध लौकिक और सामाजिक जीवन और आचार-व्यवहार तक सीमित है। उसमें कहीं देवी-देवता, ईश्वर और आध्यात्मिकता का कोई उल्लेख नहीं है। वास्तव में ‘आचारः परमो धर्मः’ के अनुसार नैतिक आचारण ही धर्म का मूल आधार है। आचरण की नैतिकता में तो वे नास्तिक लोग भी विश्वास रखते हैं, जो किसी देवता, ईश्वर और धर्म में आस्था नहीं रखते हैं।

धर्म और नैतिकता का आध्यात्मिक आयाम भारतीय धर्म-साधना की अपनी मौलिक विशेषता है, जिसका मूलाधार है जीवात्मा, विश्वात्मा और परमात्मा के अभेद में विश्वास रखनेवाला वेदान्त। आत्मा-परमात्मा की सनातनता के कारण भारतीय धर्म में लोक के साथ परलोक को भी मान्यता दी गयी है। दिव्यता, आध्यात्मिकता और ईश-भक्ति तथा देवोपासना का सम्बल पाकर नैतिकता ऋत (सनातन सत्य) का रूप ग्रहण करती है और उसके पालन से पुण्य मिलता है। ऋत की उपेक्षा अपराध ही नहीं, घोर पाप है। धर्म के इसी दिव्य रूप को ध्यान में रखते हुए *वैशेषिकदर्शन* के आचार्य कणाद ने ‘धर्म’ की परिभाषा करते हुए लिखा है— ‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः’ अर्थात् जिससे लौकिक समुन्नति और पारमार्थिक कल्याण (मुक्ति) की प्राप्ति हो, वह धर्म है। यही बात *महाभारत* (शान्तिपर्व, 290.6) में कही गयी है— ‘धर्म एव कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च’ अर्थात् धर्म ही इस लोक और परलोक में परम कल्याणकारी है।

धर्म के इसी आध्यात्मिक आयाम को दृष्टिगत रखते हुए ‘पातञ्जलयोगसूत्र’ में यम (संयम के साधन) तथा नियम (नियन्त्रण के साधन) के अन्तर्गत नैतिक मूल्यों के साथ ईश-निष्ठा, तप, स्वाध्याय आदि के रूप में आध्यात्मिक तत्त्वों का भी समावेश किया गया है। *योगसूत्र* के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह (संग्रह न करना), ब्रह्मचर्य— ये पाँच ‘यम’ हैं तथा शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर में विश्वास)— ये पाँच ‘नियम’ हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में नैतिकतामूलक धर्म को ज्ञान, भक्ति और कर्म से संयुक्त करके एक सर्वांगीण व्यवहार-दर्शन प्रस्तुत किया गया है। धर्म की इसी व्यापक अवधारणा को केन्द्र में रखकर गीताकार भगवान् कृष्ण ने अनेक जीवन-मूल्यों का उल्लेख किया है, जो मुख्यतः वेदान्तिक जीवन-दर्शन पर आधारित हैं। उन्होंने मूल्यों की इस सूची को ‘दैवी सम्पदा’ नाम दिया है, जो दिव्यता का द्योतक है। *गीता* (16.1-3) की ‘दैवीय सम्पदा’ की सूची इस प्रकार है—

‘अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥'

यहाँ भगवान् कृष्ण ने निर्भयता, अंतःकरण की शुद्धता, परमात्मज्ञान में ध्यान लगाना, दान, इन्द्रिय-दमन, यज्ञ (देवार्चन), स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, जीवों पर दया, अनासक्त रहना, विनम्रता, लोक-लाज, चंचलता का त्याग, तेज (क्रान्ति), क्षमा, धैर्य, शौच (पवित्रता), वैरभाव न रखना, स्वयं को बड़ा न समझना को दैवी सम्पदा घोषित किया है। इसके विपरीत उन्होंने दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता, अज्ञान आदि को 'आसुरी सम्पदा' माना है। अन्त में वे निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि 'दैवी सम्पदा' मनुष्य के मोक्ष के लिए है तथा आसुरी सम्पदा बन्धन का कारण सिद्ध होती है।

5. धर्म और राजनीति का जनतान्त्रिक स्वरूप

प्राचीन भारत में राजनीति का स्वरूप धर्मसम्मत था। उस समय राज (शासन) नीति से नियन्त्रित था। नीति राज अथवा शासन द्वारा निर्धारित नहीं होती थी। उस आस्थावादी युग में यह सम्भव ही नहीं था कि राजनीति अपनी मर्यादाएँ लाँघकर शासकों की स्वार्थसिद्धि का अस्त्र बन जाये। राजा राजकर्म को राजधर्म समझते थे। वे स्वप्न में भी धर्मविमुख या धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकते थे।

वैदिक ऋषियों की लोककल्याण-केन्द्रित, सकारात्मक जीवन-दृष्टि से ही उस अभेदमूलक, समतावादी, सर्वोदयी शासन-पद्धति का विकास हुआ था, जिसे आज हम प्रजातन्त्र या जनतन्त्र नाम से पुकारते हैं। वास्तव में, वैदिक चिन्तन का प्रारम्भ ही अभेदमूलक दृष्टि से हुआ था। यह अभेदमूलक दृष्टि ही जनतान्त्रिक दृष्टि का मूलधार है। यहाँ 'एकं सद्भिप्राः बहुधा वदन्ति' अर्थात् एक ही परम सत्ता को ज्ञानी जन (अग्नि, वरुण, सूर्य आदि) नामों से पुकारते हैं, की धारणा के अनुसार बहुदेवों में एक ही परमात्मा के दर्शन किये गये और इस प्रकार भिन्नता में अभिन्नता या अनेकता में एकता के दर्शन किये गये। इस प्रकार वैदिक बहुदेववाद एकेश्वरवाद में परिणत हो गया। कालान्तर में यही एकब्रह्मवाद पुनः बहुदेववाद में रूपान्तरित हो गया। वास्तव में, बहुलता में सत्ता का विकेन्द्रीकरण निहित है, तो एकब्रह्मवाद में सत्ता का केन्द्रीकरण निहित है। प्रजातन्त्र में सत्ता का केन्द्रीकरण भी रहता है और साथ ही विकेन्द्रीकरण भी। स्वायत्त, सुशासित राज्यों के ऊपर एक सर्वसत्तासम्पन्न केन्द्र भी आवश्यक है। वैदिक युग में अधिकतर राजा जनता द्वारा बहुमत के आधार

पर चुने जाते थे। वे पूरी योग्यता से शासन चलाते थे और साथ ही जनमत को भी मान्यता प्रदान करते थे। किन्तु वे कभी भी जनमत की अवहेलना नहीं करते थे और न ही अपना मनमाना निर्णय जनता पर थोपते थे।

पौराणिक स्तर पर देव-सृष्टि का स्वरूप भी एक जनतान्त्रिक ढाँचे की पुष्टि करता है। सामान्यतः जनतान्त्रिक शासन-पद्धति के तीन प्रमुख घटक माने जाते हैं— विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। सम्भवतः परवर्ती वैदिक काल में यह ढाँचा विकसित हुआ। विधायिका का दायित्व ब्रह्मा को सौंपा गया, जिसके कारण उनका एक नाम 'विधाता' रखा गया। विधाता के साथ उन्हें 'प्रजापति' नाम से भी गौरवान्वित किया गया। विश्व का भरण-पोषण और पालन करनेवाले विष्णु ने कार्यपालिका के अधिष्ठाता का दायित्व ग्रहण किया। न्यायपालिका का दायित्व महेश के पास था, जो शिव या शंकर के रूप में कल्याणकारी हैं तथा पुण्यात्माओं का मंगल करते हैं। वे रुद्र रूप में प्रचण्ड और भयंकर हैं तथा अपराधियों, पापियों को दण्डित करने में तनिक भी संकोच नहीं करते।

ऐतिहासिक स्रोतों और स्वयं वेदों से भी इस तथ्य के प्रमाण मिलते हैं कि वैदिक युग में व्यावहारिक स्तर पर जनतान्त्रिक पद्धति का प्रारम्भ हो गया था। छोटे-छोटे कई गणों को मिलाकर एक 'जन' या 'जनपद' बनता था। इस जन या राज्य की सारी जनता 'विशः' कहलाती थी, जो सहमति से अपने राजा को चुनती थी। राज्याभिषेक के समय राजा धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा, पालन और कल्याण की शपथ लेता था। प्रजा को यह अधिकार था कि यदि राजा अपने धर्म का पालन न करे, तो वह उसे पदच्युत कर सकती थी।

वैदिक युग के प्रारम्भ में 'जनों' की संख्या केवल पाँच थी, जो सब मिलाकर 'पाञ्चजन्य' कहलाते थे। ये पञ्च जन थे— अणु, द्रुह्य, यदु, तुर्वशु और पुरु। बाद में विकसित जन थे भरत, त्रित्सु, शृजय आदि। श्री कृ. दामोदरन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन-परम्परा' के पृष्ठ 67 पर लिखा है कि बौद्धकाल तक पहुँचकर तो इन जनपदों की संख्या सोलह तक पहुँच गयी। उन्होंने इनके नाम भी दिये हैं। वैदिक युग में सभी जनपदों के निवासियों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति प्रायः समान थी। अतः सबको एक ही विशः (जनता) का अंग माना जाता था।

वेदों में जनतान्त्रिक शासन-पद्धति के लिए अपेक्षित वैचारिक और

आचारिक समानता के मनोवैज्ञानिक तथा व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। इस दृष्टि से ऋग्वेद के दसवें मण्डल का सूक्त 191 विशेष उल्लेखनीय है। इसमें समता, एकता, सहयोग और संगठन को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस सूक्त के तीसरे मन्त्र में 'सभा' और 'समिति' को प्रजापति की पुत्रियाँ बतलाया गया है। 'समिति' में जन-प्रतिनिधियों की संख्या अधिक होती थी तथा उसमें मुख्यतः राजनीतिक और यदा-कदा आध्यात्मिक विषयों पर विचार-विमर्श होता था। समिति का अपना एक अध्यक्ष होता था। अध्यक्ष को 'ईशान' कहते थे। ईशान का अर्थ है अधिपति। कभी-कभी राजा भी समिति में उपस्थित होता था। 'सभा' में चुने हुए थोड़े-से सुयोग्य सदस्य होते थे। उनका कार्य न्याय करना था। *अथर्ववेद* में सभा को 'नरिष्ट' कहा गया है। 'नरिष्ट' का अर्थ है सदस्यों के बहुमत से किया गया सर्वमान्य निर्णय। किसी समस्या या मुद्दे को 'वाद' कहते थे। 'वाद' को लेकर ही पहले सभा के सदस्यों में 'विवाद' होता था तथा अन्त में 'संवाद' के रूप में किसी अन्तिम 'निर्णय' पर पहुँचा जाता था। वादी अपना वाद या अभियोग लेकर सभा में उपस्थित होता था। वह अपनी समस्या सभासदों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करता था। सभा में जाने के कारण वादी को 'सभाचर' कहा जाता था। सभा और समिति के सहयोग से राजा जन-कल्याण के कार्य तो करता ही था, वह सन्धि, विग्रह, युद्ध आदि के सम्बन्ध में भी उन्हीं के परामर्श से निर्णय करता था।

वैदिक जनतान्त्रिक राज-पद्धति की आधारभूत इकाई गण होने के कारण इसे 'गणतान्त्रिक पद्धति' भी कहा जाता था। समूचे राज्य को 'गणराज्य' कहा जाता था। वेदों के उपरान्त *महाभारत* में भी राजनीति में राष्ट्रीयता की प्रखर चेतना सजग रही है। राजभक्ति और राष्ट्र-प्रेम की दृष्टि से ऋग्वेद के दशम मण्डल का सूक्त 173 विशेष उल्लेखनीय है। वेदों की समतामूलक अभेद-दृष्टि ने व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के समन्वय और सौमनस्य पर आधारित राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना के विकास में महती भूमिका निभायी है। वेदों में निरूपित गणतन्त्र की उपर्युक्त संक्षिप्त झाँकी से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत की गणतन्त्रीय शासन-व्यवस्था धर्म की धारणा पर आधारित होने के कारण सर्वोदयी और सर्वमंगलकारी थी। प्रखर अस्मिता-बोध से भटके हुए, मानसिक दासता से ग्रस्त, धर्मनिरपेक्ष, वर्तमान भारत के नायक क्या अपनी धर्मपरायण वैदिक परम्परा से प्रेरणा लेकर देश को सच्चे अर्थों में स्वतन्त्रता का साक्षात्कार करा पायेंगे ?

6. धर्म और पुरुषार्थचतुष्टय

'पुरुषार्थ' का अर्थ है, व्यक्ति के जीवन को सच्ची सार्थकता प्रदान करनेवाला महान् उद्देश्य। पुरुषार्थ के अभाव में यह बहुमूल्य मानव-जीवन सन्मार्ग से भटककर निष्फल ही चला जाता है। जीवन को अपने तथा समाज के लिए कल्याणकारी बनानेवाले चार विशेष उपयोगी साधन अथवा प्रयोजन बताये गये हैं, जिन्हें 'पुरुषार्थ' कहा जाता है। ये चार पुरुषार्थ हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

धर्म की धारणा जीवात्मा, विश्व और परमात्मा के एकत्व या अभेद की सार्वभौम और सार्वकालिक वेदान्त-दृष्टि पर आधारित होने के कारण अपने स्वरूप में गहन और व्यापक है। अर्थ और काम लौकिक तत्त्व हैं। अर्थ और काम पर परमात्मा की प्रधानता के कारण धर्म केवल नैतिक ही नहीं, वरन् आध्यात्मिक भी है। नैतिकता सामाजिक स्तर पर उत्थान की लौकिक दृष्टि से प्रेरित है। आध्यात्मिकता सत्य की सनातन और दिव्य चेतना पर आधारित है। यह वेदान्त के अभेदवादी चिन्तन की अनूठी देन है। विश्व के सभी प्राणियों में आत्मा और परमात्मा के दर्शन करना ही वेदान्त का मूल तत्त्व है।

धर्म ही मनुष्य के जीवन को धारण करता है और उसे उचित दिशा और दृष्टि देकर आगे बढ़ाता है और स्तर की दृष्टि से ऊँचा उठाता है। धर्म की भूमिका दोहरी है। सर्वप्रथम वह मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों और उनसे जुड़े अपराधों, पापों आदि से विमुक्त करता है और इस प्रकार उसे पतन और विनाश की आशंकाओं से मुक्त करता है, तत्पश्चात् वह उसे दया, करुणा, सत्य आदि नैतिक मूल्यों से प्रेरित करके सदाचार और सन्मार्ग की दिशा में अग्रसर करता है। धर्म मानव-जीवन को अच्छाई और सच्चाई के साँचे में ढालकर नये रूप में शिल्पित करता है। इस प्रकार धर्म मानव और समाज के जीवन का धारक, निर्धारक, सुधारक और उद्धारक भी है। धर्म मानव को जीवन जीने की कला सिखाता है। अपनी सनातन सार्थकता के कारण धर्म ही परम धार्य है। आचार्य चाणक्य ने *चाणक्यनीति* (14. 13) में लिखा है कि गुणी और धार्मिक व्यक्ति ही सार्थक जीवन जीता है। गुण और धर्म से हीन व्यक्ति का जीवन निरर्थक है—

‘स जीवति गुणा यस्य यस्य धर्मः स जीवति ।

गुणधर्मविहीनस्य जीवितं निष्प्रयोजनम् ॥’

दूसरा पुरुषार्थ अर्थ है। अर्थ का अर्थ है धन-दौलत, सम्पत्ति। धन जीवन-यापन के लिए अनिवार्य है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अर्थोपार्जन के लिए

किसी-न-किसी उद्योग-धन्धे में संलग्न रहता है। पारिवारिक उन्नति, सुख-सुविधाओं, गृह-निर्माण आदि के लिए धन अनिवार्य है। इसीलिए धन-संचय की प्रवृत्ति भी स्वाभाविक है। वैसे संयम और सन्तोष से घर चलाने और सादा जीवन जीने के लिए अधिक धन की आवश्यकता नहीं है। धन के कमाने में जितनी ईमानदारी अपेक्षित है, धन के व्यय करने में भी उतनी ही सूझबूझ और संयम की आवश्यकता है। ईमानदारी से श्रमपूर्वक की गयी कमाई ही 'लक्ष्मी' कहलाती है। ईमानदार, मेहनती, उद्योगशील व्यक्ति के पास 'लक्ष्मी' स्वयं पहुँच जाती है— **‘उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः’**। सात्त्विक वृत्तियोंवाले सदाचारी, कर्मठ व्यक्तियों को कभी अभावों से ग्रस्त नहीं होना पड़ता तथा वे शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी सदा सन्तुष्ट और स्वस्थ रहते हैं। धन को धर्मपूर्वक अर्जित और व्यय करनेवाले व्यक्ति ही अर्थ को 'पुरुषार्थ' के पद पर प्रतिष्ठित करते हैं तथा साथ ही अपने जीवन को भी सार्थक बनाते हैं।

अधर्मपूर्वक ऐंठा गया और भौतिक भोगों पर खर्चा गया धन तो अनेक रोगों का पिटारा है। ये भौतिक भोग ही महारोग बनकर आते हैं। मनुष्य भोगों को तो पूरा भोग नहीं पाता, वे भोग ही उसे भोग लेते हैं और जल्दी ही उसे इस लोक से विदा कर देते हैं। भ्रष्ट भोगवादियों की अगली पीढ़ियाँ भी भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाती हैं। भ्रष्टाचार भ्रष्टाचारी को कहीं का नहीं छोड़ता। धन के भूखे भ्रष्ट नेताओं और अधिकारियों की धन-लिप्सा तो कई बार विकराल रूप लेकर दीन, दरिद्रों, दलितों में वितरण के लिए शासन द्वारा निर्धारित राशि में से अधिकांश को हड़प जाने में ही सच्चे राजधर्म के निर्वाह का परम सुख पाती है। अधर्मियों और पापियों द्वारा भ्रष्ट उपायों से संचित धन अनेक अपराधों, पापों और सन्तापों का मूल है। इसीलिए ऐसे धन को धिक्कारते हुए कहा गया है— **‘धिगर्थं दुःखभाजनम्’** अर्थात् दुःखों के भाण्डार अर्थ को धिक्कार है।

निष्कर्ष यह है कि धर्मपूर्वक अर्जित और व्यय किया गया धन ही मानव और मानवता के लिए मंगलकारी होने के कारण 'पुरुषार्थ' कहलाने का अधिकारी है।

तीसरा पुरुषार्थ है काम। ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' में कहा गया है कि जब सृष्टि में कुछ भी नहीं था, तब भी शून्य में एक तत्त्व साँस ले रहा था। उस आदिम तत्त्व का नाम था काम। स्पष्ट है कि काम से ही सृष्टि का समारम्भ हुआ। धन की भाँति काम भी तभी पुरुषार्थ है, जब वह मर्यादित और मंगलविधायक हो।

ऋग्वेद के 'सूर्यासूक्त' में काम के धर्मसम्मत, मर्यादित रूप को वैवाहिक सम्बन्ध के पावन रूप में दर्शाया गया है। यह सात्त्विक सम्बन्ध पति-पत्नी के सौभाग्य का विधायक है। किसी भी प्रकार के विवाहेतर यौन-सम्बन्ध प्रेम की परिधि से बाहर होने के कारण, 'व्यभिचार' की श्रेणी में आते हैं। किन्तु हाँ, सेवा, दया, सहयोग, परोपकार, सहानुभूति आदि मानव-प्रेम के सात्त्विक स्वरूप के उत्तम नमूने हैं। ये सभी लोक-मंगल के लिए नितान्त वांछनीय हैं। धर्म और भक्ति के निर्देशन में तो वासना भी उपासना का सात्त्विक स्वरूप ग्रहण करती है। ईश-भक्ति की भाँति देश-भक्ति, मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति आदि भी काम-भावना के उदात्त स्वरूप के द्योतक हैं, जो काम को पुरुषार्थ की पराकाष्ठा तक पहुँचाते हैं। अनाथों, दीनों, दुखियों के प्रति करुणा, सहयोग, सहानुभूति की भावना भी अभिनन्दनीय है। **अथर्ववेद** (9.2.7) में ऋषि 'काम' से प्रार्थना करता है कि वह अपने मंगलकारी रूपों से प्रेरित करता रहे तथा अपने अमंगलकारी रूपों को सदा दूर ही रखे।

धार्मिक मर्यादा का उल्लंघन करके तो काम व्यभिचार के अनेक रूपों में प्रकट होता है और कामुक तथा व्यभिचारी के जीवन को बर्बाद करके ही दम लेता है। अनियन्त्रित काम और असंयत धनलिप्सा में से कौन अधिक घातक है, यह निर्णय करना कठिन है। कई बार तो दोनों प्रकार की लिप्साएँ मिलकर व्यक्ति का सर्वनाश करती हैं। अतः कामलिप्सा और अर्थलिप्सा पर विजय पाने के लिए धर्म की शरण में जाना ही श्रेयस्कर है। निम्नलिखित श्लोक में काम और अर्थ की लिप्साओं से मुक्त सच्चे धर्मनिष्ठ व्यक्ति को ही सच्चा ज्ञानी या पण्डित माना गया है—

‘मातृवत्परद्वाराणि परद्रव्याणि लो वत् ।

आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥’

—*पञ्चतन्त्र*, मित्रभेद, कथा 19, श्लोक 435

अर्थात्, 'जो व्यक्ति परायी स्त्रियों को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान तथा सब प्राणियों को अपने समान समझते हैं, वे ही धर्मज्ञ हैं।'

मोक्ष व्यक्ति की वह मुक्त मनोदशा है, जो उसे धर्म, अर्थ, काम नामक पुरुषार्थों की सिद्धि से प्राप्त होती है। जो धर्मनिष्ठ व्यक्ति अर्थ और काम का धर्मसम्मत उपयोग करते हुए निर्विकार, निष्काम, सात्त्विक जीवन जीता है, वही मुक्तात्मा 'जीवन्मुक्त' कहलाता है। जीवन्मुक्त (जीवतुमुक्त) वह धर्मात्मा पुरुषार्थी व्यक्ति है, जो निर्बन्ध जीवन-दृष्टि के कारण इस जीवन में ही 'मोक्ष' प्राप्त कर

सकता है। गीता (5.28) में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि जो व्यक्ति इच्छा, भय और क्रोध से छुटकारा पा चुका है, वह तो सदा मुक्त ही है—

‘विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।’

गोस्वामी तुलसीदास (1532-1623) ने भी श्रीरामचरितमानस में कहा है कि जो जीवन्मुक्त महामुनि हैं, वे सदैव भगवान् के गुणों को सुनने में तल्लीन रहते हैं—

‘जीवनमुक्त महामुनि जेऊ । हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ ॥’

—उत्तरकाण्ड, 52.2

अर्थ और काम के भोगों में लिप्त मानव बन्धनग्रस्त होकर अपने जीवन को ‘नरक’ भी बना सकता है तथा इन भव-बन्धनों से मुक्त रहते हुए सच्चा स्वर्गिक जीवन भी जी सकता है। इस धरती पर ही ‘नरक’ भी है और ‘स्वर्ग’ भी। स्वर्ग कोई भू-भाग नहीं है, वस्तुतः जहाँ भी स्वर्ग का भाव है, वहीं स्वर्ग है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त (1886-1964) ने कहा है—

‘नहीं स्वर्ग कोई धरावर्ग है ।

जहाँ स्वर्ग का भाव है, स्वर्ग है ।’

7. धर्म और संस्कृति

धर्म अपने सैद्धान्तिक रूप में एक धारणा है, एक आचार-संहिता है, व्यक्ति और समाज को विकृति से बचाकर संस्कृति की ओर ले जानेवाले जीवन-मूल्यों या निर्देशक आदर्शों का अमूर्त संग्रह है। लोकजीवन और परिवेश की रक्षा, सुधार और परिष्कार के उद्देश्य से जब यह अमूर्त धर्म अपने व्यावहारिक रूप में साकार होता है, तो इस व्यावहारिक रूप को ‘संस्कृति’ कहा जाता है। संस्कृति धर्म का व्यावहारिक लोकसापेक्ष, जीवन्त और साकार रूप है। धर्म एक नैतिक और आध्यात्मिक चेतना है, जो विभिन्न मेलों, पर्वों, समारोहों, साहित्य, कला, संगीत, आदि के सांस्कृतिक स्वरूप में ढलकर साकार और सजीव हो उठती है। धार्मिक चेतना से प्रेरित सारा लोकजीवन सांस्कृतिक समारोहों के माध्यम से अत्यन्त सरस और सजीव रूप में आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठता है। भारतीय धर्म-साधना अपने अद्भुत, अनुपम सांस्कृतिक वैभव के लिए समूचे विश्व में बेजोड़ है। तभी तो कुम्भ के मेले में विभिन्न देशों के विदेशी यात्रियों की भीड़ उमड़ पड़ती है। यहाँ के मन्दिरों, मूर्तियों, त्योहारों

की अनुपम छटा को निकट से निहारने के लिए प्रतिवर्ष कितने ही विदेशी दर्शक भारत-यात्रा करते हैं। भारतीय धर्म अपनी सजीव संस्कृति के कारण विशेष उत्सवधर्मी है। भारतीय जनमानस के उत्सवधर्मी स्वभाव पर प्रकाश डालते हुए महाकवि कालिदास ने लिखा है— **‘उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः’** (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6.4.8)।

भारतीय धर्म-साधना अपने दार्शनिक रूप में जितनी निर्गुण ब्रह्म में आस्था रखती है, उतनी ही सगुण ब्रह्म और बहुदेववाद तथा अवतारवाद में। ऐतिहासिक सत्य तो यही है कि इसका प्रारम्भ वैदिक बहुदेववाद से हुआ था। पौराणिक युग में इसमें अवतारवाद भी जुड़ गया। भारतीय धर्म-साधना का निर्गुणवाद इसकी आत्मा है, तो बहुदेववाद ही इसका शरीर है। यह निर्गुणनिष्ठ सगुण शरीर ही भारतीय संस्कृति है, जो भारतीय धर्म-साधना के चलते-फिरते जीवन्त रूप को प्रत्यक्ष प्रस्तुत करती है। बहुदेववाद और अवतारवाद के माध्यम से भारतीय धर्म ने स्वयं को जनमानस के लोक-मंच पर लीलाधर रूप में प्रस्तुत किया है। अन्य धर्म-साधनाओं में बहुदेववाद और अवतारवाद का कोई स्थान नहीं है। अतः वहाँ लोक-संस्कृति के नाम पर इने-गिने त्योहारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यहाँ विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि भारतीय धर्म-साधना में व्रतों, त्योहारों आदि का निर्धारण लोक-जीवन और प्राकृतिक परिवेश के मध्य सामंजस्य बनाये रखने की दृष्टि से किया गया है। चैत्र और आश्विन में ऋतु-परिवर्तन के कारण प्रायः लोगों का पाचनतंत्र दुष्प्रभावित रहता है। इसीलिए इन दोनों मासों के मध्य में शुक्ल पक्ष प्रारम्भ होते ही नवरात्रों के रूप में माँ दुर्गा के नौ रूपों की उपासना के साथ ही उपवास या व्रत का प्रावधान किया गया है। माँ दुर्गा की पूजा नारी-सशक्तीकरण के साथ पुरुष के मनोबलवर्धन का भी सन्देश देती है। उपासना से मन और उपवास से तन शुद्ध होने के कारण पूरी जनता के आचरण में सुधार आने की सम्भावना रहती है। आश्विन में नवरात्र समाप्त होते ही नीति, भक्ति और शक्ति के शौर्य और विजय का पर्व विजयदशमी अर्थात् दशहरे का पर्व आ जाता है। यह दुष्ट, दुराचारी रावण पर शील, शक्ति और सौन्दर्य के संगम, मर्यादापुरुषोत्तम राम की विजय का पर्व है। रावण पर राम की यह विजय अधर्म पर धर्म की विजय की प्रतीक है। विजयोत्थास के इस पर्व पर रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद के पुतले जलाये जाते हैं। इस अवसर पर दर्शकों की भारी भीड़ उमड़ पड़ती है और उत्साह तथा उल्लास का पारावार उद्वेलित हो उठता है। इस अवसर पर आयोजित

‘रामलीला’ की अपनी ही धार्मिक-सांस्कृतिक महिमा है। इस विजयोल्लास की परिणति होती है कार्तिक कृष्ण अमावस्या को आयोजित किये जानेवाले आलोक-पर्व दीपावली के रूप में। दीपावली पर राम के साथ ही धन-वैभव की देवी लक्ष्मी की भी पूजा होती है।

8. भारतीय धर्म-साधना के प्रमुख विशेषण

मूल रूप में धर्म की धारणा नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित होने के कारण सार्वभौम और सार्वकालिक है। अतः यह ‘विश्व-धर्म’ की द्योतक है। इसके साथ यह भी सत्य है कि इस ‘विश्व-धर्म’ की धारणा का उदय मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की पुण्यभूमि भारत में हुआ। उक्त दोनों सत्यों को ही व्यक्त करनेवाले कुछ विशेषण इस धर्म-साधना से जुड़े हुए हैं।

‘धर्म’ की धारणा के व्यापकतम स्वरूप का द्योतक विशेषण है सनातन। ‘सना भवः सनातनः’ के अनुसार सदा रहनेवाला ही सनातन कहलाता है। ‘सना’ का अर्थ है सदा। ब्रह्म के सनातन स्वरूप पर आधारित होने के कारण भारतीय धर्म-साधना को सनातन (नित्य, अनादि) विशेषण से विभूषित किया गया है। सनातन धर्म जीवात्मा, परमात्मा और जगत्— सभी को सनातन मानता है और अखण्ड, अभेदमूलक वेदान्तिक जीवन-दृष्टि पर आधारित है। यह विश्व-मानवतावाद या ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की व्यापकतम चेतना से अनुप्रेरित है। इसलिए *गीता* (5.18) में सच्चे धर्मनिष्ठ ज्ञानी मनुष्यों को समदर्शी कहा गया है— ‘पण्डिताः समदर्शिनः’। यह समत्व-दर्शन ही वेदान्त है, जो भारतीय धर्म-साधना का मौलिक आधार है। यही भारत का राष्ट्रीय दर्शन है। यह भारत के धर्म, दर्शन, इतिहास और संस्कृति की आत्मा है।

‘आर्य-धर्म’ और ‘वैदिक धर्म’ में परस्पर घनिष्ठता है। वैदिक आर्यों का धर्म होने के कारण यह ‘आर्य-धर्म’ कहा जाता है। ‘आर्य’ का अर्थ है श्रेष्ठ, पराक्रमी योद्धा। वैदिक धर्म वह है, जो आर्य ऋषियों द्वारा रचित वैदिक साहित्य पर आधारित है। वैदिक साहित्य में वैदिक संहिताओं के साथ ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। यह वैदिक धर्म ही पौराणिक युग में विष्णु का माहात्म्य बढ़ जाने पर ‘वैष्णव धर्म’ भी कहा जाने लगा, क्योंकि इस काल तक पहुँचते-पहुँचते देवोपासना और अवतारवाद के विशेष विकास के कारण विष्णु और उनके राम और कृष्ण नामक अवतारों की भक्ति विशेष लोकप्रिय हो चुकी थी। इसी

वैष्णव धर्म को ‘भागवत धर्म’ भी कहा जाता है। वैदिक ऋषि ब्रह्म के ध्याता और ब्रह्मवेत्ता थे। अतः वे ‘ब्रह्मचारी’ और ‘ब्राह्मण’ कहलाते थे। यह ब्रह्मविद्या ही उन्हें ब्राह्मी स्थिति में पहुँचाती थी। अतः वैदिक धर्म को ही ‘ब्राह्मण धर्म’ भी कहा जाता है। सभी ब्रह्मर्षि ब्राह्मण थे। ब्राह्मण ही विप्र भी कहलाते थे।

उक्त विशेषणों के अतिरिक्त भारतीय धर्म-साधना का एक अन्य विशेषण है— ‘हिन्दू’। अतः भारतीय धर्म को हिन्दू-धर्म भी कहा जाता है। यह ‘हिन्दू’ विशेषण अन्य विशेषणों से कुछ विशिष्ट है। इसमें भूगोल और इतिहास की चेतना की प्रमुखता है, अतः यह राष्ट्रीयता के बोध पर केन्द्रित है। ‘हिन्दी’, हिन्दू, हिन्द या हिन्दुस्थान— ये सभी शब्द ‘सिन्धु’ से विकसित हैं। वास्तव में, सिन्धु-घाटी और सिन्धु-प्रदेश ही भारत की भारतीयता, धर्म और संस्कृति के आदिम स्रोत रहे हैं। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के मत के अनुसार ईरानियों की प्राचीनतम धर्म-पुस्तक ‘अवेस्ता’ में पाये जानेवाले ‘हिन्दु’, ‘हिन्दू’ शब्द ‘सिन्धु’ शब्द से ही बने हैं। वास्तव में ‘हिन्द’, ‘हिन्दी’, ‘हिन्दू’, ‘हिन्दुस्थान’, ‘इण्डस’, ‘इण्डिया’ शब्द भारत को विश्व की देन हैं। अतः हमारा राष्ट्रबोध अपने भीतर विश्व-बोध अथवा ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की गहन और व्यापक चेतना समाहित किये हुए है। अभेदमूलक, वेदान्तिक जीवन-दृष्टि हमारी विशिष्ट पहचान है। वैकुण्ठी, मुक्त मनोदशा के धनी स्वामी विवेकानन्द ने ‘हिन्दू’ कहे जाने पर कुण्ठित अनुभव करने की प्रवृत्ति पर प्रहार करते हुए कहा है— ‘हम लोग हिन्दू हैं। यदि आज हिन्दू शब्द का कोई बुरा अर्थ लगाया जाता है, तो उसकी परवाह मत करो। आओ, अपने कार्यों और व्यवहारों द्वारा यह दिखाने के लिए तैयार हो जाओ कि विश्व की कोई भाषा इससे उत्तम, इससे महान् शब्द का आविष्कार नहीं कर सकती है।’ राष्ट्रीय पुनर्जागरण के पुरोधा, प्रखर राष्ट्रवादी और स्वातन्त्र्यचेता पुं प्रतापनारायण मिश्र (1856-1894) ने विदेशी दासता के दुर्दिनों में कहा था—

‘चाहू जो साँचो कल्याण । तो सब मिलि भारत-सन्तान ।

जपो निरन्तर एकहि ध्यान । हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥’

9. अन्य धर्मों से हिन्दू धर्म का वैशित्य

यहाँ केवल कुछ प्रमुख विशिष्टताओं पर प्रकाश डालना ही अभीष्ट है, जो भारतीय धर्म-साधना की अन्य धर्म-साधनाओं से पृथक् पहचान की निर्धारक हैं।

क) सनातनता हिन्दू धर्म की मौलिक विशेषता है। वेदान्त के रूप में वैदिक

चिन्तन की जैसी अखण्ड परम्परा भारत में प्रारम्भ से आज तक चली आ रही है, वैसी चिन्तन की निरन्तरता किसी धर्म में नहीं है। उपनिषदों और *गीता* का चिन्तन ही विवेकानन्द, महात्मा गांधी, विनोबा भावे आदि में युगानुरूप व्यक्त हुआ है।

- ख) अन्य धर्मों की जन्म-तिथियाँ निश्चित हैं, किन्तु सनातन हिन्दू धर्म की अविरल धारा तो वैदिक युग से सतत प्रवाहित है। न ही कोई ऋषि या मुनि हिन्दू धर्म का प्रवर्तक रहा है। इसके विपरीत ईसाई मत प्रोफ़ेट ईसा द्वारा आज से 2014 वर्ष पूर्व प्रारम्भ किया गया। इसी प्रकार इस्लाम धर्म पैग़म्बर मुहम्मद (570-632) द्वारा सन् 622 ई. में चलाया गया।
- ग) हिन्दू धर्म के प्रेरणा-स्रोत के रूप में वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक-ग्रन्थ, दर्शन-ग्रन्थ आदि अनेक ग्रन्थों की पूरी परम्परा रही है, जो हिन्दू धर्म के गतिमय, विकसनशील स्वरूप की द्योतक है। इसके विपरीत ईसाइयत में *बाइबिल* ही धर्म का मूलाधार है। कुछ अन्य ग्रन्थों में *बाइबिल* की ही व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार इस्लाम का आधारभूत ग्रन्थ मुहम्मद साहब द्वारा संकलित '*कुरआन शरीफ़*' ही है। '*हदीस*' में मुहम्मद साहब के प्रामाणिक वचन संकलित हैं, जो *कुरआन शरीफ़* से अलग हैं।
- घ) हिन्दू धर्म एकेश्वरवादी के साथ बहुदेववादी भी है। अतः अनेकता में एकता और एकता में अनेकता की यह अवधारणा हिन्दू धर्म को सहिष्णु और जनतान्त्रिक स्वरूप प्रदान करती है। अन्य धर्मों में ब्रह्म (खुदा या गॉड) के निराकार स्वरूप को ही माना गया है, अन्य किसी देवी-देवता को नहीं माना गया। एकेश्वरवादी होने के कारण इनमें सारी सत्ता एक (खुदा या गॉड) में समा गयी है। सत्ता के केन्द्रीकरण के कारण इन सम्प्रदायों, विशेषतः इस्लाम में निरंकुश तानाशाही प्रवृत्तियों का विशेष विकास हुआ है तथा उदारता, सहनशीलता की प्रवृत्तियों का विकास नहीं हो सका। इसीलिए इस्लामी देशों में जनतान्त्रिक शासन-पद्धति का विकास नहीं हो पाया। आक्रामकता, आधिपत्य, विस्तारवाद, आतंकवाद आदि प्रवृत्तियाँ भी निरंकुश तानाशाही की देन हैं। अब ये ही प्रवृत्तियाँ उनके लिए ही आत्मघाती सिद्ध हो रही हैं।
- ङ) हिन्दू धर्म में भक्ति, पूजा, यज्ञानुष्ठान, तीर्थ-यात्रा आदि पर बल है, किन्तु कोई एक उपासना-पद्धति निर्धारित नहीं है। व्यक्ति किसी एक या अनेक देवी-देवताओं में आस्था रखने या न रखने के लिए स्वतन्त्र है। मन्दिरों या

तीर्थों में जाना व्यक्ति की अपनी आस्था पर निर्भर है। जितनी स्वतन्त्रता हिन्दू धर्म में है, उतनी अन्य किसी भी धर्म में नहीं है। यहाँ धर्म आरोपित नहीं है। वह अपनी निहित नैतिकता और आध्यात्मिकता के कारण स्वेच्छा से धारण किया जाता है। अन्य सम्प्रदायों में उपासना-पद्धति यान्त्रिक और अनिवार्य है।

- च) हिन्दू धर्म में भक्त भगवान् की भक्ति करते-करते स्वयं भी भगवत्स्वरूप हो जाता है। रामभक्त हनुमान् रामभक्ति करके स्वयं भी उपास्य और वन्दनीय हो गये। यही नहीं, आज पूरे विश्व में जितने मन्दिर हनुमानजी के हैं, उतने उनके उपास्य राम के नहीं हैं। यहाँ भक्ति भक्त के आत्मोद्धार और उत्कर्ष का माध्यम है। इस्लाम में बन्दे का कर्तव्य है खुदा की बन्दगी करना और स्वयं को खुदा का गुलाम समझना। ईसाइयत में स्थिति इस्लाम की अपेक्षा कुछ बेहतर है। वहाँ गॉड पिता है तथा सभी ईसाई आपस में भाई-भाई हैं (Fatherhood of God and brotherhood of Men.)।

गोस्वामी तुलसीदास ने *श्रीरामचरितमानस* (उत्तरकाण्ड, 19. 16) में भक्त और भगवान् के सम्बन्ध के विषय में यहाँ तक कह दिया है कि भक्त भक्ति करते-करते स्वयं भगवान् से भी आगे निकल जाता है—

‘मोरे मन प्रभु अस विश्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा ॥’

यहाँ भक्ति भगवान् की महिमा के माध्यम से मानव-महिमा का सिद्धान्त है।

- छ) हिन्दू धर्म में निर्गुण ही सगुण रूप ग्रहण करता है और अवतार धारण करता है। विभिन्न देवी-देवता भी ब्रह्म के ही सगुण-साकार रूप हैं। अतः निर्गुण-सगुण में अभेद है। अदृश्य अगोचर निर्गुण ब्रह्म का ध्यान दुष्कर है। सगुण-साकार रूप में उसकी उपासना सरल और सरस हो जाती है। हिन्दू धर्म में अवतारों और देवी-देवताओं की उपासना अपनी सहजता, सरसता आदि के कारण विशेष लोकप्रिय हुई है। मन्दिरों, मेलों, तीर्थों, उत्सवों आदि के रूप में, सगुणोपासना अपने विराट् इन्द्रधनुषी स्वरूप में प्रकट हुई है और इसने हिन्दू धर्म को विपुल सांस्कृतिक वैभव से सम्पन्न कर दिया है। ईश-भक्ति और देवोपासना के साथ ही गुरु-भक्ति, पितृ-पूजा, मातृ-भक्ति ने मिलकर पूरे परिवेश को पूजामय बना दिया है। सगुणोपासना का यह सरस, सुवासित, पूजामय, सांस्कृतिक परिवेश अन्य मतों के लिए तो निश्चय ही स्पृहणीय है।

चौथा अध्याय

धर्म और मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य

मनुष्य तन, मन और आचरण का संयोग है। इन तीनों में मन ही केन्द्रीय तत्त्व है। मनुष्य सृष्टि के आदिपुरुष मनु की सन्तान है। 'मनु' शब्द मन् (मन्+उ) से निर्मित है, जिसके द्वारा मनन या चिन्तन सम्भव है। मनु को महामनस्वी माना जाता है। मननशील मन ही तन को सुविचारित आचरण में नियोजित करता है। अतः मनुष्य का आचरण उसके मन के चिन्तन का व्यक्त या मूर्त रूप होता है। मनुष्य के आचरण या व्यवहार से उसके चिन्तन की परख या पहचान होती है। यह मन अपने मूल रूप में द्वन्द्वात्मक है। यह अज्ञान की असत् प्रेरणा से पाप और पतन की दिशा में भी जा सकता है तथा ज्ञान की सत्प्रेरणा से सुमति-सञ्चालित होकर धर्म और पुण्य के उत्तम कार्यों में भी संलग्न हो सकता है। उत्तम कार्य यश और प्रशंसा के साथ मानसिक परितृप्ति और सुख-शान्ति प्रदान करते हैं, तो अधम कार्य निन्दा तथा अपकीर्ति के कारण बनते हैं तथा मन में अनेक प्रकार की चिन्ताएँ, कुण्ठाएँ, विक्षोभ और ग्लानि उत्पन्न करते हैं। इतना ही नहीं, अनेक बार गहन चिन्ता, भारी आत्मग्लानि आदि से रक्तचाप बढ़ जाने से दिल का दौरा भी पड़ जाता है अथवा अन्य अनेक मनोरोग लग जाते हैं। ये मानसिक उद्विग्नताएँ ही तन को भी दुर्बल कर देती हैं और शारीरिक रोगों का भी कारण बन जाती हैं। मनोरोगों को ही 'आधि' कहा जाता है। शारीरिक रोग, पीड़ाएँ आदि 'व्याधि' कहलाते हैं। व्याधियों की अपेक्षा आधियों या मनोरोगों को अधिक घातक माना जाता है। जिस प्रकार तन और मन एक हैं, उसी प्रकार आधि-व्याधियों में भी

गहरा नाता है। तन की चोट से मन को आघात लगता है, तो मानसिक आघात का प्रभाव पूरे तन को भी सहना पड़ता है।

सार-रूप में कहा जाये, तो एक सुखी, शान्तिपूर्ण और सफल जीवन जीने के लिए शारीरिक और मानसिक नीरोगता और स्वास्थ्य आवश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्राचीन भारत के महान् आयुर्वेदाचार्य चरक ने सर्वथा सत्य लिखा है—

‘धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।

रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥’

इस श्लोक का अर्थ है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों का मूल आधार मनुष्य का उत्तम स्वास्थ्य ही है। रोग तो उसके प्राणों और यश का अपहरण करनेवाले हैं।

1. प्राचीन भारत में आयुर्वेद

प्राचीन भारत में तन और मन के रोगों के निवारण के लिए 'आयुर्वेद' के रूप में चिकित्साशास्त्र का विकास हुआ। आयुर्वेद को भी (उप) वेद कहलाने का गौरव प्राप्त था। चिकित्साशास्त्र या वेद को जाननेवाले को 'वैद्य' और उसके चिकित्सा-कार्य को 'वैद्यक' कहा जाता था। आयुर्वेद का मूल उद्देश्य था मनुष्य की जीवनी शक्ति के संवर्धन द्वारा उसकी आयु को यथासम्भव सुदीर्घता प्रदान करना। वैदिककालीन अश्विनीकुमार नामक देव-युगल को तो देवताओं का वैद्य होने का श्रेय प्राप्त है। मानव-शरीर की आन्तरिक संरचना पर वैदिक ऋषियों का ध्यान निरन्तर केन्द्रित रहा है। आयुर्वेद के विकास के प्रारम्भिक स्रोत *अथर्ववेद* में सहज सुलभ हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों में भी मानव-शरीर की संरचना और आरोग्य-पद्धति पर चिन्तन किया गया है।

प्राचीन काल के वैद्यों में सुश्रुत का नाम विशेष प्रसिद्ध है। उन्होंने चिकित्सा के क्षेत्र में त्वचारोपण (प्लास्टिक सर्जरी) और मोतियाबिन्द की शल्यक्रिया का विकास किया। आयुर्वेदाचार्य चरक ने '*चरकसंहिता*' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ का प्रणयन किया। रसायनशास्त्री के रूप में प्रसिद्ध श्री नागार्जुन आयुर्वेदाचार्य भी थे। औषधि के बिना ही शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की सुरक्षा के सनातन सूत्रों से युक्त, योगाचार्य पतञ्जलि ऋषि द्वारा रचित '*योगसूत्र*' नामक ग्रन्थ स्वास्थ्यविज्ञान के क्षेत्र में अनुपम उपलब्धि माना जाता है। योगविद्या, योगासन, प्राणायाम आदि का

प्रचार-प्रसार करके आज भी अनेक योगी स्वास्थ्य-रक्षा के क्षेत्र में सराहनीय योगदान दे रहे हैं।

आयुर्वेदाचार्य वाग्भट्ट द्वारा प्रणीत 'अष्टांगसंग्रह', भावमिश्र द्वारा रचित 'भावप्रकाश' तथा शार्ङ्गधर द्वारा प्रस्तुत 'शार्ङ्गधरसंहिता' आयुर्वेद के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

2. प्रज्ञापराध ही अस्वस्थता का मूल कारण

श्री चरक के अनुसार प्रज्ञापराध ही सब आधियों-व्याधियों का मूल कारण है। चरकसंहिता में उल्लेख किया गया है— 'प्रज्ञापराधो हि मूलं रोगाणाम्'।

यहाँ 'प्रज्ञापराध' के आशय को समझना आवश्यक है। वास्तव में, मनुष्य दूसरों की आँखों से तो अपने पापों या अपराधों को छिपाने में अक्सर सफल हो जाता है, किन्तु अपनी अन्तरात्मा की तीखी आँखों से बचकर कहीं नहीं जा सकता। अपनी दृष्टि में तो वह स्वयंसिद्ध पापी, पतित या अपराधी होता है। ऐसी विषम स्थिति में, तीखे अपराध-बोध के कारण वह आत्मगौरव और स्वाभिमान से वंचित होकर एक अपराधी का ग्लानिग्रस्त, कुण्ठित जीवन जीने को विवश होता है। उसे अपना घर, परिवार और पूरा परिवेश एक कारावास प्रतीत होता है। यह अपराध-बोध की भीतर ही भीतर सुलगती हुई मनोदशा 'प्रज्ञापराध' है। इस मानसिक सन्ताप से उसकी आत्मिक शान्ति अशान्ति में बदल जाती है। वह निरन्तर चिन्ता, घुटन, ग्लानि से ग्रस्त रहने लगता है। मानसिक विकारों के कारण पाचन-क्रिया भी मन्द पड़ जाती है। उदर-विकारों के कारण सिर-दर्द, उच्च रक्तचाप आदि रोग बल पकड़ने लगते हैं। इस प्रकार अनेक आधियों-व्याधियों का पिटारा खुल जाता है। यह सब प्रज्ञापराध का ही दुष्फल है।

कुमतिग्रस्त और दुष्कर्मी व्यक्ति को अपने पापों का फल भोगना ही पड़ता है। इसके विपरीत सदाचारी व्यक्ति को अपने सत्कर्मों का फल सुख, शान्ति, स्वास्थ्य और दीर्घायु के रूप में मिलता है। मनु महाराज ने अपने ग्रन्थ *मनुस्मृति* (4. 157-158) में स्पष्ट लिखा है कि दुराचारी पुरुष लोक में अपयश का पात्र बनता है। वह निरन्तर रोगग्रस्त और दुखी रहने के कारण अल्पायु में ही मर जाता है। इसके विपरीत सदाचारी व्यक्ति धन-सम्पत्ति से वंचित रहने पर भी श्रद्धावान् तथा ईर्ष्यारहित होने के कारण सौ वर्षों तक जीवित रहता है। मनु महाराज का कथन निम्नलिखित है—

‘दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।

दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।

श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥’

3. रोगोपचार का नैसर्गिक उपाय : योग

प्राचीन दार्शनिकों, आयुर्वेदाचार्यों तथा योगाचार्यों ने मनुष्य के तन, मन और आचरण का गहन अध्ययन किया था। रोगोपचार-पद्धति का विकास करते हुए भी उन्होंने मन की पतनोन्मुखी तथा उत्थानोन्मुखी गतिविधियों पर विशेष ध्यान दिया है। वेदान्त, सांख्य, योग आदि दर्शनों में मन को मायामुक्त, शुद्ध-बुद्ध, चैतन्यस्वरूप बनाये रखने पर विशेष बल दिया गया है। ये सभी दर्शन मानसिक आसक्तियों और विकृतियों को ही शारीरिक रोगों और आचारिक अधःपतन का मूल कारण मानते हैं। योग-साधना मानसिक और शारीरिक विकारों से मुक्ति का ही साधन नहीं है, यह यम-नियम के अंतर्गत सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि वैचारिक और आचारिक उच्च आदर्शों के माध्यम से आचरण के परिष्कार के भी द्वार खोलती है। यह साधना स्वावलम्बन और स्वतन्त्रता पर निर्भर है। कोई भी व्यक्ति अपने भरोसे पर अपने सर्वांगीण सुधार और उद्धार का मार्ग अपना सकता है।

पतञ्जलि ऋषि के 'योगसूत्र' नामक ग्रन्थ का उद्देश्य है मनुष्य के तन, मन और आचरण का शोधन। 'योगसूत्र' के प्रारम्भ में ही दिये गये 'समाधिपाद' के दूसरे सूत्र में योग की परिभाषा करते हुए कहा गया है— 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। इसका अर्थ है कि बाहर की ओर दौड़नेवाली, लिप्सातुर, चञ्चल चित्तवृत्तियों का नियन्त्रण ही योग है। आशय यह है कि मन की एकाग्रता के लिए बहिर्मुखी, चञ्चल चित्तवृत्तियों को संयत करना अनिवार्य है। मन एकाग्र और शान्त होगा, तो अपराधों से भी मुक्त रहेगा और प्रज्ञापराध से भी। योगसूत्र के प्रथमपाद के बारहवें सूत्र में वृत्तियों के नियन्त्रण की दो विधियाँ— अभ्यास और वैराग्य— बतलायी गयी हैं। बाहरी विषयों के प्रति विरक्ति से वृत्तियों की बहिर्मुखी गति को अवरुद्ध किया जाता है तथा बार-बार अभ्यास द्वारा मन को स्थिर और शान्त रखा जाता है। मानसिक चञ्चलता पर विजय प्राप्त करने की ये ही दो विधियाँ श्रीमद्भगवद्गीता (6.35) में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को बतलायी हैं। अर्जुन को लक्ष्य करके वे कहते हैं— 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'। गीता के अन्य अनेक श्लोकों की

सामग्री भी पातञ्जल योगसूत्र से ली गयी है। उदाहरणार्थ योगसूत्र के प्रथम पाद के सूत्र 48 से 51 तक परमसत्यधारिणी प्रज्ञा के स्थिर होने पर ही समाधि-दशा की प्राप्ति का जो विवेचन किया गया है, वही गीता (2.67-72) में स्थितप्रज्ञ और ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति के निरूपण के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। गीताकार कृष्ण योगसूत्र के योग से इतने प्रभावित हैं कि वे सभी प्रकार के झंझटों से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय 'योग' को ही घोषित करते हैं और अपने परम प्रिय शिष्य अर्जुन को 'योगी' बनने का आदेश देते हुए कहते हैं— 'तस्माद्योगी भवार्जुन' (वही, 6.46)। स्पष्ट है कि योग की यह सर्वकल्याणकारिणी पद्धति तन, मन, आचरण की सभी उलझनों से मुक्ति पाने का शर्तिया उपाय है।

योगसूत्र (2.29) में योग के आठ अंगों के रूप में तन, मन और आचरण के शोधन की योजना प्रस्तुत की गयी है। ये आठ अंग हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार (इन्द्रिय-निग्रह), धारणा, ध्यान और समाधि। यम और नियम के माध्यम से मानव-जीवन के विकास और उत्कर्ष की नैतिक और आध्यात्मिक योजना प्रस्तुत की गयी है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह (संचय न करना)— ये पाँच 'यम' हैं तथा शौच (शुद्धता, पवित्रता), सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर के प्रति समर्पण)— ये चार 'नियम' हैं। आसन शरीर की जड़ता को दूर करके उसमें सक्रियता और स्फूर्ति का संचार करने के उत्तम साधन हैं। प्राणायाम का सीधा सम्बन्ध श्वसन-क्रिया से है। प्राणवायु के आवागमन से जीवन चलता है। प्राणवायु अथवा श्वास को संकोच और विस्तार से नये आयाम प्रदान करना और इस प्रकार श्वास के व्यायाम द्वारा जीवनी शक्ति का विकास करना ही प्राणायाम का उद्देश्य है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि मानसिक एकाग्रता द्वारा चिन्तन-शक्ति को उत्कर्ष पर पहुँचाने की आन्तरिक क्रियाएँ हैं। ध्यान-योग से मानव की मेधा तल्लीनता या ब्रह्मलीनता के परम लक्ष्य की सिद्धि करती है— यही समाधि है।

यहाँ अष्टांग योग और उसके उपयोगों का विस्तृत विवेचन वांछित नहीं है। अतः यहाँ योग के कुछ नितान्त व्यावहारिक और सुबोध प्रयोगों पर ही अति संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है। (आसन और प्राणायाम पर छोटी पुस्तिकाएँ बाज़ार में आसानी से उपलब्ध हैं)

1. अंगों की नमनीयता (लचक)— नमनीयता या लचकीलापन

जीवनी शक्ति की पक्की पहचान है। जिस व्यक्ति की धमनियाँ, शिराएँ, अस्थियों के जोड़ और विशेषतः मेरुदण्ड जितने अधिक लचीले होते हैं, वह उतना ही स्फूर्तिवान् और शक्ति-सम्पन्न होता है। आसनों में यों तो सभी अंगों की नमनीयता पर ध्यान दिया गया है, किन्तु मेरुदण्ड की नमनीयता पर दृष्टि विशेष केन्द्रित रही है। वस्तुतः मेरुदण्ड ही पूरे शरीर का मूल आधार है। योगविद्या में मेरुदण्ड की विशेष महिमा है। इसी में षट्चक्र और इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नामक नाड़ियाँ विद्यमान हैं। मेरुदण्ड को लचकदार बनाने की दृष्टि से धनुरासन, भुजंगासन, हलासन, चक्रासन आदि बेजोड़ हैं। इनके माध्यम से मेरुदण्ड के साथ अन्य अंग भी लचकदार बनते हैं। इनको करने से व्यक्ति वृद्धावस्था तक चुस्त-दुरुस्त रहता है।

2. पाचन-क्रिया और श्वसन-तन्त्र— उपर्युक्त चारों आसन प्रमुखतम हैं। ये पाचन-क्रिया और श्वसन-तन्त्र (फेफड़ों आदि) पर भी उत्तम क्रिया करते हैं। पाचन-क्रिया सही रखने से मोटापा, मधुमेह आदि रोगों से बचा जा सकता है। उदर-विकारों से मुक्ति के लिए सर्वांगासन, उड्डीयान बन्ध, न्यौली क्रिया विशेष लाभकारी हैं। मलबद्धता या कब्ज से मुक्ति के लिए घुटनों पर हाथ रख कर पद्मासन में बैठे हुए या खड़े हुए झुककर अग्निसार-क्रिया करने से सफलता मिलती है। इसमें श्वास बाहर छोड़कर पेट के नलों को लगातार, शीघ्रता से आगे-पीछे धकेलने की क्रिया अनेक बार दुहराने से विशेष सफलता मिलती है।

3. सूर्य नमस्कार का चमत्कार— अकेले सूर्य नमस्कार में कई आसन एकसाथ संयुक्त हैं। यह ऊर्जा, स्फूर्ति, लचीलापन आदि अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसे विधिवत् सीखकर इसके गुणों से लाभान्वित हुआ जा सकता है।

4. आसनों में शीर्ष है शीर्षासन— शीर्षासन से मस्तिष्क में रक्त-संचार होने से बुद्धि में प्रखरता आती है। मुख-मण्डल की कान्ति बढ़ती है। बाल न झड़ते हैं और न असमय सफ़ेद होते हैं। सिर और माथे के दर्द से छुटकारा मिलता है। उदर-विकार भी दूर होते हैं।

5. ॐकार-ध्वनि का चमत्कार— शीर्षासन से भी मस्तिष्क का व्यायाम होता है, किन्तु सभी लोग शीर्षासन नहीं कर पाते। उनके लिए ॐकार-ध्वनि बहुत सुगम है। साँस भरकर धीरे-धीरे साँस छोड़ते हुए ॐकार-ध्वनि करने से खोपड़ी में गुञ्जन पैदा होता है और मस्तिष्क में स्पन्दन उत्पन्न होने पर सक्रियता आती है। मस्तिष्क में सक्रियता लाने का ॐकार-ध्वनि सरलतम और उत्तम उपाय है।

6. शौच-महिमा और स्नान- यम-नियम योगांगों में नियम के अन्तर्गत शौच को प्रथम स्थान प्राप्त है। योग का तन-मन की शुचिता पर विशेष बल है। शौच में स्नान का स्थान महत्त्वपूर्ण है। स्नान करते तो सभी हैं, किन्तु उसके मूल आशय और विधि से कम ही लोग अवगत हैं। 'स्नान' शब्द संस्कृत की 'स्ना' धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ है स्नायु या पेशी या नस। स्नायुमण्डल की मालिश को ही 'स्नान' कहा जाता है। इसीलिए जल-स्नान की भाँति प्रातःकालीन धूप में शरीर की मालिश को धूप-स्नान और बन्द कक्ष में भाप में स्नान को वाष्प-स्नान कहा जाता है। मर्दन से पूरे शरीर में सक्रियता आती है। मर्दन तीव्र गति से हो, तो विशेष स्फूर्ति का संचार होता है।

संक्षेप में, योग-साधना एक नैसर्गिक, सुलभ, स्वास्थ्य-साधना है। इसके द्वारा मनुष्य सारी आधि-व्याधियों से मुक्त रहता है और जीवनभर नीरोग रहकर सुदीर्घ जीवन जीता है।

4. गीता में स्वास्थ्यविज्ञान

भगवद्गीता वेदान्तदर्शन का ग्रन्थ है। भारतीय धर्म, संस्कृति, इतिहास की आत्मा होने के कारण वेदान्त ही भारत का राष्ट्रीय दर्शन है। इसमें भारत ही नहीं, समूचे विश्व-जीवन की समस्याओं का समाधान विद्यमान है। *गीता* में वेदान्तदर्शन अपने दार्शनिक और व्यावहारिक—दोनों स्तरों पर पूर्ण प्रभाव के साथ उजागर हुआ है। यह रोगों और रागों (आसक्तियों) पर ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्म-योग की विजय का ग्रन्थ है। यह शारीरिक, मानसिक और आचारिक विकृतियों पर संस्कृति के जयघोष का ग्रन्थ है। इसमें आत्मशुद्धि को ही योगसिद्धि का चरम लक्ष्य माना गया है—

‘कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥’

—गीता, 5.11

अर्थात्, 'योगीजन तन, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा अनासक्त भाव से आत्मशुद्धि के उद्देश्य से कर्म करते हैं।'

स्पष्ट है कि यदि तन, मन और आचरण के विकारों के कारण मनुष्य रुग्ण या अवसादग्रस्त है, तो उसे इस विषाद से मुक्ति पाने के लिए किसी बाहरी अवलम्बन

का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है, वरन् एक स्वावलम्बी उद्धारक के रूप में स्वयं ही अपना उद्धार करना चाहिये। विवशतावश पीड़ा भोगते रहने में कोई औचित्य नहीं है। *गीता* में मनुष्य को स्वावलम्बन का सन्देश देते हुए कहा गया है कि इस जगत् में मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु है और स्वयं ही अपना मित्र। आशय यह है कि मनुष्य अज्ञानवश अपने साथ शत्रुता का व्यवहार करते हुए स्वयं को आधि-व्याधियों या अन्य संकटों में फँसा लेता है, किन्तु जब उसकी ज्ञान की आँखें खुलती हैं, तो स्वयं अपना हितैषी बनकर संकट से मुक्ति भी पा लेता है। अतः *गीता* में आत्मोद्धार का सनातन मार्ग बताया गया है—

‘उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥’

—वही, 6.5

गीता (14.24) में उसी व्यक्ति को 'स्वस्थ' कहा गया है, जो सब भेद-भावों से ऊपर है, आत्मस्वरूप में स्थित है और शान्त है। समत्वयोगी, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति ही नित्य निर्विकार होने के कारण 'स्वस्थ' कहा गया है। *गीता* में शारीरिक और आचारिक शुद्धता का आधार है स्वस्थ अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित मन। मानसिक स्वास्थ्य ही तन और आचरण की शुद्धता का मूल स्रोत है।

स्वास्थ्य-सिद्धि में स्थूल और सूक्ष्म भोजन की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उत्तम विचार और आचार सूक्ष्म भोजन के अंतर्गत आते हैं। स्थूल भोजन में विभिन्न खाद्य-सामग्रियाँ समाहित हैं। उत्तम सूक्ष्म और स्थूल भोजन का मनुष्य के तन-मन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है तथा निकृष्ट भोजन का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। *गीता* (17.7-10) में गीताकार ने सात्त्विक, राजसिक और तामसिक आहारों की चर्चा की है। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य (स्वास्थ्य), सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले रसयुक्त, स्निग्ध (घी, दूध, दही, मक्खन, शहद आदि) सात्त्विक आहार हैं। इनके विपरीत कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, ऊष्ण, तीखे, रुखे रोगकारक आहार राजसी हैं। इनसे भी घटिया आहार तामसी हैं। इनमें कच्चे, नीरस, सड़े हुए और अभक्ष्य (मांस, मदिरा, आदि) आहार सम्मिलित हैं।

कुल मिलाकर, *गीता* का योगदर्शन मनुष्य के सर्वांगीण विकास और मंगल की व्यावहारिक योजना प्रस्तुत करता है। योग-पद्धति का सम्यक् निर्वाह करनेवाले साधक के लिए यह योग-मार्ग रोगों और दुःखों से छुटकारा दिलानेवाला है। *गीता* में

उचित ही कहा गया है—

‘युक्ताहारविहारस्य युक्तचेतस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥’

—गीता, 6.17

अर्थात्, ‘उचित आहार-विहार करनेवाले, उपयुक्त क्रियाएँ करनेवाले, निश्चित समय पर सोने-जागनेवाले योगी के लिए योग दुःखों का नाश करनेवाला होता है।’

निश्चय ही गीता का योगदर्शन एक सर्वांगीण स्वास्थ्य-दर्शन है।

5. श्रीरामचरितमानस में स्वास्थ्य-सिद्धान्त

महाकवि गोस्वामी तुलसीदास का श्रीरामचरितमानस मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के गौरव-गान के माध्यम से मानव की महिमा की स्थापना का महाकाव्य है। तुलसीदास मानव-जन्म को देवदुर्लभ मानते हैं। गोस्वामी जी की मान्यता है कि जो मनुष्य देवदुर्लभ नर-तन पाकर भी विषय-वासना के माया-जाल में फँसे रहते हैं, वे मूर्ख नर-तन की गरिमा गिराते हैं। वे मूर्ख अमृत से विमुख होकर विष को अपनाते हैं— ‘पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं’। (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 43.1)

अ. आदर्श तन, मन, आचरण का योग : राम— राम स्वस्थ मन के साथ स्वस्थ तन और आचरण के प्रतीक हैं। इसीलिए उन्हें ‘अनामय’ अर्थात् ‘नीरोग’ कहा गया है। ‘अनामय’ विष्णु भगवान् का भी नाम है। अतः विष्णु के अवतार के रूप में राम का ‘अनामय’ होना स्वाभाविक ही है। राम की काया विकाररहित और ‘चिदानन्दमय’ है। उनकी काया उनकी आत्मा के समान ही ‘चैतन्यस्वरूप’ और सुख-दुःख के द्वन्द्व से मुक्त ‘आनन्दमयी’ है—

‘चिदानन्दमय देह तुम्हारी । विगत विकार जान अधिकारी ॥’

—वही, अयोध्याकाण्ड, 126.3

राम के इस सात्त्विक शरीर की सार्थकता उनके मन की सदाशयता और आचरण की मंगलमयता में निहित है। वास्तव में, उनके नर-तन-धारण का उद्देश्य है लोक-कल्याण अर्थात् सज्जनों और देवताओं के बिगड़े काम बनाना तथा सब प्रकार से उनके हित साधना। कहा भी गया है कि— ‘नर तन धरेहु संत सुर काजा’ (वही, अयोध्याकाण्ड, 126.6)। राम गीता के कृष्ण की भाँति अधर्म के विनाश और धर्म की रक्षा के लिए मानव-रूप में अवतरित हुए हैं। राम का निर्विकार, निरामय

शरीर लोक में मानव-शरीर के उच्चादर्श का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करता है।

आ. तामस तन और सात्त्विक वृत्तियों में द्वन्द्व— तुलसीदास ने ‘मानुष तनु गुन ग्यान निधाना’ (वही, अयोध्याकाण्ड, 263.2) कहकर मानव-शरीर को सात्त्विक शरीर की श्रेणी में रखा है। इसके विपरीत वह राक्षसों के शरीर को ‘तामस’ और ‘अधम’ मानते हैं। तामसी वृत्तियों की प्रधानता के कारण राक्षसों का तन तमोगुणी होता है। मूलतः रावण भी राम के गुणों और व्यक्तित्व से प्रभावित था, किन्तु तमोगुणी स्वभाव के कारण वह उनकी भक्ति नहीं कर सकता था। उसके पास राम के चरणों पर भक्ति-भावना अर्पित करने की मनोवृत्ति नहीं थी। वह तो अपनी दुष्टता, वैर-भावना, कलह, क्रोध को ही उनके चरणों पर अर्पित कर सकता था। अतः वह राम का वैर-भाव का भक्त बना। उसके लिए यही मार्ग स्वाभाविक था। अतः उसने राम से वैर करने का निश्चय किया, जिससे वह राम के वाण से मारा जाये और भवसागर को पार कर सके—

‘तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ । प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ ॥

होइहि भजनु न तामस देहा । मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा ॥’

—वही, अरण्यकाण्ड, 22.3

तुलसी के अनुसार अधम शरीर से उच्च मनोभूमि में प्रवेश करना दुष्कर है। फिर भी उन्होंने वानरराज हनुमान्, राक्षसराज विभीषण, रीछों में जाम्बवन्त तथा वानर-समाज में अंगद आदि के रूप में ऐसे ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किये, जिन्होंने अपने अधम शरीर की तामसिक सीमाओं को लाँघकर रामभक्ति की सात्त्विक मनोभूमि में प्रवेश किया—

‘कपिपति रीछ निसाचर राजा । अंगदादि जे कीस समाजा ।

बन्दऊँ सबके चरन सुहाये । अधम सरिर राम जिन्ह पाये ॥’

—वही, बालकाण्ड, 17.1

इ. मानसिक तथा शारीरिक रोग— गोस्वामी तुलसीदास जितने महान् रामभक्त थे, उतने ही महान् ज्ञानी और चिन्तक भी थे। चिन्तन के क्षेत्र में उनकी अवधारणाएँ मौलिकता में बेजोड़ हैं। उदाहरणार्थ, वह मानते हैं कि सत्ययुग, त्रेता आदि युगों का विभाजन सर्वथा युक्तिसंगत नहीं है। यह सम्भव नहीं है कि सत्ययुग में सत्य ही सत्य था तथा असत्य का कहीं नाम ही नहीं था। इसी प्रकार वे मानते हैं कि

कलियुग नितान्त असत्य और पाप का ही भाण्डार नहीं है। उनकी मौलिक मान्यता है कि ये सभी युग अलग-अलग अनुपात में सभी युगों में साथ-साथ रहते हैं। अन्तर इतना ही है कि कलियुग में अज्ञानजन्य कुमति से प्रसूत दुराचारों और पापों की प्रधानता है। उनकी मान्यता है कि कुमतिप्रधान कलियुग ही सब आधियों-व्याधियों का मूल है। कुमतिप्रधान कलियुग के दुष्प्रभाव से ही मन आधिग्रस्त, तन व्याधिग्रस्त और वचन असत्य-प्रदूषित हो जाता है—

‘आधि-मगन-मन, व्याधि-विकल तन बचन मलीन झुठाई’

गोस्वामी जी ने *श्रीरामचरितमानस* के उत्तरकाण्ड में मानसिक और शारीरिक रोगों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने मोह को सब रोगों की जड़ माना है। उन्होंने काम को वात (वायु-विकार), लोभ को कफ तथा क्रोध को नित्य छाती में जलन पैदा करनेवाला पित्त माना है। उन्होंने इन तीनों को ही अन्य व्याधियों का भी स्रोत बताया है। इन तीनों के गठबन्धन से ही सन्निपात नामक भारी कष्टप्रद रोग होता है—

‘सुनहु तात अब मानस रोगा । जिन्ह तें दुख पावहिं सब लोगा ॥

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला । जिन्ह तें पुनि उपजहिं बहुसूला ॥

काम बात कफ लोभ अपारा । क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥

प्रीति करें जो तीनउ भाई । उपजइ सन्यपात दुखदाई ॥’

—वही, उत्तरकाण्ड, 120 (ख), 14-16

ई. स्वास्थ्य-सिद्धान्त के प्रमुख आयाम— गोस्वामी तुलसीदास के *श्रीरामचरितमानस* और अन्य ग्रन्थों में आरोग्य-दर्शन या स्वास्थ्य-सिद्धान्त के अनेक आयाम उजागर हुए हैं। यहाँ संक्षेप में कुछ प्रमुख आयामों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

1. **भक्ति और नीरोगता तथा स्वास्थ्य—** सात्त्विक विचारों-आचारों का तन और मन की शुद्धि पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। मन में सात्त्विक भावों का उदय होते ही तन पर एक प्रकार की अनूठी कान्ति या आध्यात्मिक आभा छा जाती है। रोगग्रस्त होने पर स्वयं तुलसीदास ने राम, शिव, हनुमान् की भक्ति द्वारा स्वास्थ्य-लाभ किया था। तुलसी के अनुसार परम पावन रामकथा दैहिक, दैविक, भौतिक रोगों का नाश करनेवाली है। रामराज में रामभक्त सभी नर-नारी मुक्ति के अधिकारी थे। न किसी की अल्पायु में मृत्यु होती थी और न किसी को

कोई पीड़ा थी। सब सुन्दर थे और स्वस्थ थे। कोई दरिद्र, दीन-दुखी, मूर्ख और कुलक्षण नहीं था—

‘राम भगति रत नर अरु नारी । सकल परम गति के अधिकारी ॥

अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा । सब सुंदर सब विरुज सरीरा ॥

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥’

—वही, उत्तरकाण्ड, 20.2-3

भक्ति-भाव-मर्मज्ञ तुलसीदास जानते थे कि भक्ति के भव्य भाव में ही पावन प्रभाव-क्षमता निहित होती है। यह प्रभाव मन के माध्यम से पूरे तन में व्याप्त हो जाता है। भक्ति मन और तन दोनों को सम्मोहित करती है। भक्ति मानसिक संस्कार और शारीरिक परिष्कार का मंगल-मार्ग है। तुलसी का दृढ़ विश्वास है कि राम का नाम भव-व्याधियों की अमोघ ओषधि है तथा दैहिक, दैविक, भौतिक तापों के निवारण में सर्वथा समर्थ है— **‘जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय शूल’** (वही, उत्तरकाण्ड, 124.क)। रामकथा भव-रोग के उपचार के लिए सचमुच सँजीवनी बूटी है—

‘संसृति-रोग संजीवनमूरी । राम कथा गावहिं श्रुति सूरी ॥’

—वही, उत्तरकाण्ड, 128.1

2. **योग और स्वास्थ्य—** गोस्वामी तुलसीदास ने अष्टांग योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का रामकथा के विभिन्न प्रसंगों में सार्थक उपयोग किया है।

श्रीरामचरितमानस में योग के यम और नियम नामक अंगों पर सर्वाधिक बल दिया गया है, क्योंकि ये दोनों शारीरिक, मानसिक और आचारिक शुद्धि के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करते हैं। यम का अर्थ है नियन्त्रण या मर्यादा और नियम व्यवहार के नैतिक सिद्धान्त हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (त्यागपूर्ण जीवन) यम हैं तथा शौच, सन्तोष, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (प्रभु के प्रति समर्पण) नियम हैं। रावण से युद्ध के समय रथी रावण के समक्ष राम को पैदल युद्धरत देख कर जब विभीषण शंकाग्रस्त हो जाते हैं, तब राम उनका मनोबल बढ़ाते हुए शम, यम, नियम को ही विजय-प्राप्ति के उत्तम उपाय घोषित करते हैं—

‘अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद विप्र गुरु सेवा । एहि सम विजय उपाय न दूजा ॥’

—वही, लंकाकाण्ड, 79.4-5

अर्थात्, ‘निर्मल, स्थिर मन तरकश के समान है। शम (चित्त की स्थिरता), यम और नियम विविध बाण हैं। विप्र और गुरु की सेवा अभेद्य कवच है। इसके समान विजय का कोई दूसरा उपाय नहीं है।’

श्रीरामचरितमानस में आसनों के नाम पर तो केवल दो ही आसनों का उल्लेख हुआ है। वे हैं वीरासन और पद्मासन। ‘वीरासन’ नाम के अनुरूप, शूरवीर व्यक्ति की सतर्क और सावसान मुद्रा का द्योतक है। इसमें घुटने से मुड़ी हुई दायीं टाँग के पैर का आश्रय लेकर बैठा हुआ वीर सामने टिके हुए बायें पैर के घुटने पर रखे हुए बायें हाथ में कसकर गृहीत धनुष पर दायें हाथ से वाण चढ़ाकर प्रत्यञ्चा को ऐसे ताने रहता है, मानो लक्ष्यभेदन के लिए तत्पर है। वनवास के समय कुटीर के समक्ष प्रहरी के रूप में तैनात वीर लक्ष्मण वीरासन की इसी मुद्रा का आश्रय लेते हैं। पद्मासन का प्रसंग शिवजी के साथ सम्बन्धित है। वे ध्यान के समय पद्मासन की मुद्रा में बैठते हैं। ‘मानस’ में ‘प्राणायाम’ का यथावत् उपयोग नहीं मिलता। हाँ, प्रकारान्तर से अवश्य मिलता है। जब पार्वती जी शिव को पति-रूप में पाने के लिए किये गये जप, तप और व्रत के समय खाना-पीना त्यागकर केवल पवनाहार करती हैं, तो वे प्रकारान्तर से प्राणायाम का ही आश्रय लेती हैं। ‘मानस’ में योग के प्रमुख अंग ‘ध्यान’ का भी विधिवत् समावेश है। तुलसी ने सीता, राम और लक्ष्मण के त्रैत (तिकड़ी) पर ध्यान लगाने का विशेष फल बताया है। इसमें राम के बायीं ओर सीताजी तथा दायीं ओर लक्ष्मण विराजमान होते हैं— ‘राम बाम दिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर’। शिवजी इसी त्रैत का ध्यान करते हैं—

‘अनुज जानकी सहित निरंतर । बसहु राम नृप मम उर अंतर ॥’

—वही, लंकाकाण्ड, 114 (ख) 4

शिवजी की समाधि-दशा के रूप में योग-साधना के अन्तिम अंग को भी श्रीरामचरितमानस में प्रस्तुत किया गया है। शिवजी सब व्यस्तताओं से मुक्त होकर समाधि में लीन हो गये—

‘सिब समाधि बैठे सब त्यागी’

—वही, बालकाण्ड, 82.2

श्रीरामचरितमानस में योग के अष्टांगों के मानव-शरीर पर पड़नेवाले सकारात्मक प्रभाव का उल्लेख किया गया है। अत्रि आदि अनेक मुनिगण योग-साधना के माध्यम से अपने शरीर के अंगों में वांछित गठन और कसाव उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त करते दिखलायी पड़ते हैं— ‘करहिं जोग जप तप तन कसहिं’ (वही, अयोध्याकाण्ड, 131.4)। तप के माध्यम से संवर्धित कायिक कान्ति का निराला नमूना है तपस्विनी स्वयंप्रभा। वह यथानाम तथा गुण की उक्ति को चरितार्थ करती हुई स्वयं ही प्रत्यक्ष ‘तपपुञ्ज’ प्रतीत होती है।

3. आयुर्वेद और स्वास्थ्य— तुलसीदास ने अपने बहुमूल्य ग्रन्थ ‘श्रीरामचरितमानस’ में आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति का भी प्रसंगानुरूप सदुपयोग कर लिया है। वास्तव में, आयुर्वेद एक सम्पूर्ण चिकित्सा-पद्धति है। यह प्राकृतिक जड़ी-बूटियों पर निर्भर होने के कारण प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति के बहुत निकट है और परिणाम में सर्वथा निर्दोष है।

आयुर्वेद में शरीर के विकारों को दूर करने के लिए शल्य-क्रिया या चीर-फाड़ (सर्जरी) की विधि भी प्रचलित रही है। सुश्रुत ने शरीर को बाधित करनेवाले फोड़ा आदि को ‘शल्य’ कहा है और उसे चीर-फाड़ के द्वारा शरीर से निकालने की विधि को ‘शल्य-क्रिया’ कहा है। यह क्रिया कष्टकर तो है, किन्तु इसके लाभ को ध्यान में रखकर तुलसीदास जी इसके पक्ष में हैं। वे कहते हैं कि ममतामयी माँ भी शल्य से तड़पते हुए अपने बच्चे के हित को ध्यान में रखते हुए कलेजा कठोर करके अपने बच्चे की शल्य-क्रिया कराती है, क्योंकि वह जानती है कि व्याधि-नाश के लिए इतनी पीड़ा सहना तो अनिवार्य है—

‘जिभि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं । मातु चिराव कठिन की नाई ॥

—वही, उत्तरकाण्ड, 73 (ख).4

तुलसीदास जी उपचार की अपेक्षा परहेज़ (पथ्य) के अधिक पक्ष में हैं। सुवैद्यता इसी में है कि रोग के बढ़ने से पूर्व ही उसकी आवश्यक रोकथाम कर दी जाये—

‘तुलसी भली सुबैदई, बेगि बाँधिये ब्याधि’

—दोहावली, 242

श्रीरामचरितमानस के कथात्मक ढाँचे में आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति के समावेश का प्रमुख प्रसंग है 'लक्ष्मण-मूर्च्छा'। मेघनाद की वीरघातिनी शक्ति के प्रहार से मूर्च्छित लक्ष्मण के उपचार के लिए पवनपुत्र हनुमान् लंका से सुषेण वैद्य को लाते हैं, जो हनुमान् द्वारा लायी गयी संजीवनी बूटी से लक्ष्मण को मूर्च्छा-मुक्त करता है।

4. **स्वास्थ्य-संवर्द्धन के प्राकृतिक उपाय**— प्रकृति हमारी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का स्रोत है। तुलसी के राम जितने संस्कृति के पुजारी हैं, उतने ही प्रकृति के भी उपासक हैं। वे सात्विक आहार के पक्षधर हैं। वे भरद्वाज, वाल्मीकि आदि ऋषियों के आश्रमों में पहुँचकर कन्द, मूल, फल आदि का ही आहार करते हैं। श्रीरामचरितमानस में अंकुरित अन्न और शहद को भी उनके आहार में सम्मिलित दिखाया गया है। जल-पान की राम की पद्धति स्वास्थ्य-संवर्द्धन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। वे प्रायः सर्वत्र आचमन की विधि से ही जलपान करते हैं। यह पद्धति स्वास्थ्य-संवर्द्धक के साथ ही अपने स्वरूप में सांस्कृतिक है।

श्रीरामचरितमानस में स्नान पर विशेष बल दिया गया है। तुलसी के अनुसार स्नान केवल शीतलतादायक और मलहारी ही नहीं है, वरन् स्वास्थ्यवर्धक, पापनाशक और पुण्यपोषक भी है। 'मानस' में दर्शाया गया है कि राम वनवास के समय नदियों, तीर्थ-स्थलों, सरोवरों के निकट ही विश्राम करते हैं तथा दिन में तीन बार स्नान करते हैं। स्नान की उनके जीवन में विशेष महत्ता है। राम के राजतिलक के समय तो उनकी स्नान-विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है। स्नान से पूर्व उबटन की क्रिया को भी विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि स्नायुमण्डल के मर्दन (मालिश) के कारण यह भी एक प्रकार का स्नान ही है, जिसमें हल्दी, बेसन, तैल आदि के सम्मिश्रण के मर्दन के द्वारा शरीर में नयी स्फूर्ति का संचार किया जाता है। उबटन करना शारीरिक कान्ति और शक्ति के उभार और निखार की प्रभावी सांस्कृतिक क्रिया है।

श्रीरामचरितमानस में उपवास को भी स्वास्थ्य-सिद्धान्त का अभिन्न अंग माना गया है। उपवास से उदर-विकारों का परिहार तो होता ही है, साथ ही मानसिक संशुद्धि भी होती है और व्यक्ति अपने पुनीत लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होता है। श्रीरामचरितमानस में मनु-शतरूपा और पार्वती के उपवास का विस्तार

से वर्णन किया गया है।

भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस के विचारों और संस्कारों ने ही ब्रिटिश काल में श्री मोहनदास करमचन्द गांधी को राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का गौरव प्रदान किया। बापू ने सच्चे कर्मयोगी के रूप में उक्त दोनों ग्रन्थों की वेदान्त-दृष्टि को ही सत्याग्रह के साँचे में ढाला और उसमें उपवास-पद्धति तथा प्राकृतिक चिकित्सा का भी समावेश किया। गांधीजी का पैतृक व्यवसाय इत्र आदि सुगन्धित तैल बेचने का था। गन्ध से 'गंधी' और 'गांधी' बना है। गीता और श्रीरामचरितमानस की पावन प्रेरणा से गोरखपुर की पुण्यभूमि पर 'गीताप्रेस' की स्थापना हुई तथा लगभग उसी समय प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र के रूप में 'आरोग्य धाम' की स्थापना हुई। अब तो उसी पावन प्रेरणा से पूरे देश में सहस्रों प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्रों की स्थापना हो चुकी है।



पाँचवाँ अध्याय वैदिक देवलोक और त्रिदेव

1. देव : अर्थ और स्वरूप

‘दे’ शब्द दा या दिव् धातु से निर्मित माना जाता है। ‘दा’ का अर्थ है देना तथा ‘दिव्’ का अर्थ है चमकना या आलोकित होना। वह सत्ता जो जीवनोपयोगी वस्तुएँ देकर जीवमात्र का उपकार करती है तथा अलौकिक सात्त्विकता और शक्तियों के कारण जिसका व्यक्तित्व दीप्तिमान है, वह दिव्य सत्ता ही देव या देवता है। देवों की यह देने या उपकार करने की मूल प्रवृत्ति पालन, रक्षण और उत्थान की प्रवृत्तियों को भी अपने अन्दर समेटे हुए है। देव मनुष्यों को अन्न, फल, जल आदि के रूप में जीवन की रक्षक और पोषक सामग्री ही नहीं देते, वरन् उन्हें धन, साधन और सन्तान भी देते हैं। वे आँधी, बाढ़, महामारी आदि प्राकृतिक प्रकोपों तथा शत्रुओं से भी उनकी रक्षा करते हैं।

श्रद्धाशील, आभारी मानव भी देवों की इस अपार अनुकम्पा के लिए उनके प्रति भावभरित हृदय से नतमस्तक होता है और मुक्तहृदय से उनका स्तवन या कीर्तिगान करता है। ऋग्वेद में इन स्तुतियों को ही ‘ऋचा’ कहा गया है। ऋचा से ही अर्चन या अर्चना शब्द निर्मित होता है, जिसका अर्थ है पूजा या प्रार्थना। पूरा ऋग्वेद ऋचाओं अर्थात् देव-स्तुतियों का भावपूर्ण संग्रह है, जिसे ‘संहिता’ कहा गया है। ऋग्वेद का अर्थ ही है ऋचाओं का वेद। ‘वेद’ शब्द विद् धातु से निर्मित है, अतः वेद का अर्थ है ज्ञान। यह ज्ञान ऋषियों को समाधि-दशा में प्राप्त हुआ है, अतः इसे आर्षज्ञान अर्थात् ऋषियों का ज्ञान भी कहते हैं और समाधि-दशा में प्राप्त ईश्वरीय

या दिव्य ज्ञान होने के कारण यह आप्त ज्ञान अर्थात् नितान्त विश्वसनीय, प्रामाणिक ज्ञान माना जाता है।

ऋचाओं या वेदमन्त्रों में मानव-प्रकृति और बाह्य प्रकृति का अनूठा संगम घटित हुआ है। देवों के रूप में प्राकृतिक शक्तियों— अग्नि, सूर्य, उषा, पर्जन्य, मरुत् आदि को ही मानवीय और दिव्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऋषियों की आर्ष दृष्टि में मानव-प्रकृति, बाह्य प्रकृति और दिव्य अपौरुषेय सत्ता का यह त्रिवेणी-संगम निश्चय ही अद्भुत है। परिवेश में व्याप्त प्राकृतिक शक्तियों का यह मानवीय और दिव्य रूप ही स्तुति-गानों के रूप में ऋषियों की वाणी से प्रस्फुटित हुआ। यह आर्षज्ञान ही भारतीय धर्म, इतिहास, दर्शन, भक्ति, संस्कृति का विश्वसनीय आदिम स्रोत है। स्पष्ट है कि भारतीय देवोपासना की परम्परा वैदिक ऋषियों के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है, किसी कपोल-कल्पना पर नहीं।

2. बहुदेववाद से एकेश्वरवाद और फिर उससे बहुदेववाद

अनेकता में एकता और एकता में अनेकता ही वैदिक जनतान्त्रिक पद्धति का नैसर्गिक स्वरूप है, जो देव-सृष्टि में भी स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। अग्नि, मरुत्, सूर्य, उषा, पर्जन्य (मेघ) आदि की जीवनदायी सत्ता और महत्ता को वे कैसे अस्वीकार कर सकते थे? इन्हीं के सहारे तो सबका जीवन चलता था। इन सबमें सबसे अधिक उपयोगी और महिमावान् कौन हैं— यह निर्णय कर पाना असम्भव था। इसी से जुड़ा हुआ प्रश्न यह था कि सबसे पहले किस देव की उपासना की जाये! ऋग्वेद (1.164.46) में इन सब शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा गया है— ‘एकं सद्भिप्राः बहुधा वदन्ति’ अर्थात् विविध देवों में एक ही परम सत्ता (परमात्मा) विद्यमान है, उसी को अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि विविध नामों से पुकारा जाता है। इससे स्पष्ट हुआ कि पृथक्-पृथक् नामों से पहचाने जानेवाले देवगण मूलतः एक ही परमसत्ता के विविध रूप हैं। अतः सब बराबर हैं, कोई किसी से छोटा नहीं है। सभी सबसे बड़े हैं। इस प्रकार बहुदेववाद की परिणति एकेश्वरवाद या एकब्रह्मवाद में हुई। यह सारा अभेदवादी चिन्तन ऋषियों के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित था। यह अभेदमूलक पारदर्शी जीवन-दृष्टि आगे चलकर आरण्यकों और विशेष रूप से उपनिषदों में वेदान्तदर्शन का मूलाधार सिद्ध हुई।

जिस प्रकार वैदिक बहुदेववाद की स्वाभाविक परिणति एकेश्वरवाद में हुई थी, उसी स्वाभाविक रूप में पुनः एकेश्वरवाद की परिणति बहुदेववाद में हुई।

भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है परम्परा का अखण्ड सातत्य। यहाँ जो परम्परा एक बार प्रारम्भ हो जाती है, वह आवश्यकतानुसार नया रूप ग्रहण करती हुई, निरन्तर चलती ही रहती है। अतः उपनिषदों और उनके बाद के पौराणिक काल में पुनः एक नये रूप में बहुदेववाद की प्रतिष्ठा हुई। अग्नि, सूर्य आदि वैदिक देवों की पूजा-अर्चना विधिवत् चलती रही। प्रजापति, विष्णु आदि गौण वैदिक देव आगे चलकर देव-सृष्टि के केन्द्र में आ गये। इन्हीं के साथ सरस्वती और लक्ष्मी भी महामहिमा की प्रतिमा बनकर प्रकट हुई। वैदिक काल के एक अन्य गौण देव थे रुद्र, जो कोप और उग्रता के देव थे और दस्युओं से युद्धरत रहते थे। ये संख्या में ग्यारह होने के कारण गणदेव थे। एकादश रुद्रों में एक शम्भु थे, जो पौराणिक देवों में शिव के रूप में सपरिवार गौरवान्वित हुए।

यह तथ्य भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिन उपनिषद्-ग्रन्थों में वैदिक बहुदेववाद चिन्तन की सूक्ष्म अभेदवादी वेदान्ती दृष्टि की प्रमुखता के कारण एकेश्वरवाद में परिणत हुआ था, उन्हीं में विष्णु, शिव आदि भावी पौराणिक युग के देवों को ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठित किया गया। उदाहरण के लिए *कठोपनिषद्* (3.4) में विष्णु के परमपद का निरूपण किया गया है। *श्वेताश्वतरोपनिषद्* में संहारकारी देव रुद्र और कल्याणकारी देव शिव की परम सत्ता के रूप में वन्दना की गयी है। *छान्दोग्योपनिषद्* (17.6) में घोर आंगिरस ऋषि अपने शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण को यज्ञ-दर्शन की शिक्षा देते हैं। उक्त सभी देवी-देवताओं का *रामायण*, *महाभारत*, पुराणों में बहुविध विकास दिखलायी पड़ता है।

3. वैदिक देवलोक : स्थान और स्वरूप

वैदिक देवलोक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसकी कोई सीमा नहीं है। देव भी असंख्य हैं। *ऋग्वेद* में 33 देवों की स्तुतियाँ हैं। सम्भवतः इन्हीं 33 के आधार पर बाद में 33 करोड़ अर्थात् असंख्य देवों की उद्भावना की गयी। स्थान की दृष्टि से वैदिक देवों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है— 1. द्युलोक (स्वर्ग या आकाश) के देव, 2. अन्तरिक्ष के देव तथा 3. पृथिवी के देव। सूर्य को द्युलोक का देव माना गया है। विद्युत्, पर्जन्य (मेघ, वर्षा), वायु आदि अन्तरिक्ष के देव हैं। अग्नि पृथिवी का प्रमुख देव है। *ऋग्वेद* में इन्द्र, अग्नि, सूर्य, वरुण, सोम, सविता, मित्र, मरुत् (वायु), रुद्र, विष्णु, उषा नामक देवों को प्रमुख माना गया है।

यहाँ संक्षेप में देवों के स्वरूप पर भी विचार करना प्रासंगिक होगा।

अधिकतर देव प्रकृति से संबंधित हैं, किन्तु ऋषियों की अनुभूति और उद्भावना के साँचे में ढलकर वे प्रायः सभी मानवीय आकृति-प्रकृति, क्रियाकलाप आदि से संयुक्त प्रतीत होते हैं। *ऋग्वेद* के पहले मन्त्र में ही अग्निदेव को यज्ञ की ज्वाला के साथ ही यज्ञ का पुरोहित तथा आहुति डालनेवाला 'होता' भी बतलाया गया है। सूक्त के अन्त में अग्नि से प्रार्थना की गयी है— 'हे अग्ने ! जैसे पिता पुत्र को अनेक प्रकार के सुन्दर उपहार प्रदान करता है, ऐसे ही तुम भी हमारे कल्याण के लिए हमसे जुड़े रहो।' इन्द्र मूलतः मेघों और वर्षा के देव हैं; किन्तु उन्हें पराक्रमी योद्धा और 'देवराज' के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार वरुण को सत्य और न्याय के संरक्षक न्यायाधीश की भूमिका में प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति के साथ मानव-प्रकृति के सूक्ष्म भावों को भी देवरूप में प्रस्तुत किया गया है। काम, मन्यु (क्रोध) को देव माना गया है, तो श्रद्धा को देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

मानवीकरण की उपर्युक्त प्रवृत्ति के साथ ही देवों को अलौकिकता या दिव्यता से भी मण्डित किया गया है। ओषधियों के परम ज्ञाता दो संयुक्त देव (देव-युगल) अश्विनीकुमार जब आकाश में अपने भाले चमचमाते हुए अपने यान पर तीव्र गति से उड़ान भरते हैं, तो उनके यान की तीव्र गति की गूँज दूर से सुनायी पड़ती है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की उदात्त भावनाओं से भास्वर होने के कारण देवताओं के दीप्तिमय स्वरूप की गरिमा में भारी अभिवृद्धि हुई है। उदात्तीकरण, मानवीकरण और दिव्यीकरण के संगम ने त्रिभुवनसुन्दरी उषा देवी के सम्मोहक स्वरूप को जैसी अनूठी गरिमामयी दीप्ति प्रदान की है, वह निश्चय ही बेजोड़ है। उदाहरण के लिए *ऋग्वेद* (5.80.6) में उषा-सुन्दरी की बाँकी झाँकी प्रस्तुत करते हुए कहा गया है— 'यह आकाश की सुलक्षणा कन्या मनुष्यों को दिखलाने के लिए रमणी के समान अपने सौन्दर्य का उद्घाटन करती है। अपने श्रोताओं को श्रेष्ठ धन प्रदान करती हुई यह नित्ययौवना उषा पूर्व की भाँति ही अपना प्रकाश विकीर्ण कर रही है।'।

देवों के स्वरूप-निर्माण से संबंधित एक अन्य महत्वपूर्ण प्रवृत्ति यह भी रही है कि किसी एक ही देव की भिन्न-भिन्न विशेषताओं को आधार बनाकर एक में से अनेक देवों का विकास हुआ है। उदाहरणार्थ एक ही सूर्यदेव के सद्भाव या सखा-भाव को ध्यान में रखकर उसे 'मित्र' कहा गया है। उसे ही उत्पादन की क्षमता के कारण 'सविता' नाम से अभिहित किया गया है। पोषण की प्रवृत्ति के आधार पर उसे ही 'पूषन' भी कहा गया है। नामों की भिन्नता के कारण पौराणिक युग में सूर्य की अनेक रूपों में उपासना होने लगी।

संक्षेप में, भारतीय देवोपासना का विकास मानव, प्रकृति और परोक्ष दिव्य सत्ता के संगम पर आधारित है। अतः भारतीय धर्म-साधना का विकास नितान्त नैसर्गिक रूप में हुआ है। भारत में वैदिक काल से ही उपासकों के सामने विकल्पों की व्यापक व्यवस्था रही है। हिन्दू-उपासना अनेकता में एकता और एकता में अनेकता अथवा सगुण में निर्गुण और निर्गुण में सगुण की सहज अनुभूति पर आश्रित रही है। निर्गुणोपासना तो अन्य धर्म-साधनाओं में भी प्रचलित रही है, किन्तु निर्गुण के साथ बहुदेववाद पर आधारित सगुणोपासना भारतीय धर्मसाधना की अपनी विशिष्ट पहचान है। बहुदेववाद में सत्ता का विकेन्द्रीकरण है, जो स्वतन्त्रता, जनतन्त्र और विश्व-बन्धुत्व का आधार है।

यज्ञ भी वैदिक धर्म का अति महत्वपूर्ण तत्त्व है। यह आहुतियों के माध्यम से अनुभूतियों के प्रसार का प्रभावशाली माध्यम रहा है। होता आहुतियों के माध्यम से सार्वभौम दिव्य सत्ताओं से अपना भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। आगे चलकर यज्ञ ने अपने मूल स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए तप-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ, कर्म-यज्ञ आदि का सूक्ष्म भावात्मक या संकल्पात्मक रूप ग्रहण कर लिया और यह जीवन-यज्ञ में परिणत हो गया। इस सूक्ष्म रूप का विकास उपनिषदों और *भगवद्गीता* में देखा जा सकता है।

4. वैदिक त्रिदेव

पहले लिखा जा चुका है कि देवता अनेक हैं और वे सभी अन्य सबसे महत्तर अर्थात् बढ़कर हैं। उनमें कोई किसी से छोटा नहीं है। सबकी महिमा अपार है। सैद्धान्तिक स्थिति तो यही है। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से उनके तुलनात्मक महत्त्व पर विचार किया है। यदि सूक्तों की संख्या के आधार पर प्रथम तीन देवों का निर्णय किया जाये, तो सर्वप्रथम देवता इन्द्र हैं, जिनकी स्तुति ऋग्वेद के 250 सूक्तों में की गयी है। दूसरे नम्बर पर आते हैं अग्निदेव। इनकी स्तुति ऋग्वेद के 200 सूक्तों में की गयी है। तीसरा नम्बर सोम का है, जिनकी स्तुति ऋग्वेद के 120 सूक्तों में की गयी है।

अनेक विद्वानों ने देवों के ओजस्वी और यशस्वी व्यक्तित्व को मूल्यांकन का आधार मानते हुए अग्नि, इन्द्र और वरुण को प्रथम वैदिक त्रिदेव की सूची में सम्मिलित किया है। यों 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के संगम की कसौटी पर उषा का स्थान भी विशेष गौरवपूर्ण है। आचार्य यास्क ने ब्रह्माण्ड के तीनों देव-स्थानों के साथ ही

देवों के व्यक्तित्व की महिमा को भी मूल्यांकन की कसौटी मानते हुए अग्नि, इन्द्र और सूर्य को वैदिक त्रिदेवों की सूची में शामिल किया है। यास्काचार्य के अनुसार पृथिवीस्थानीय देवों में अग्नि सर्वप्रथम है। अन्तरिक्षस्थानीय देवों में वे इन्द्र को सर्वोत्तम मानते हैं तथा द्युस्थानीय देवों में उनके अनुसार सूर्य सर्वाधिक तेजस्वी और महिमावान् हैं। परवर्ती विद्वानों ने भी आचार्य यास्क के निर्णय को ही मान्यता प्रदान की है।

क. अग्निदेव

भले ही गणना की दृष्टि से अग्नि से संबंधित सूक्तों की संख्या इन्द्र से संबंधित सूक्तों से कुछ कम है, किन्तु यह तथ्य कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है कि स्वयं ऋग्वेद के संकलनकर्ता ऋषियों ने अग्निदेव की स्तुति से ही ग्रन्थ का शुभारम्भ करना श्रेयस्कर माना है। अतः प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त (ऋग्वेद, 1.1.1) अग्निदेव के स्तुति-गान को ही समर्पित है। यह तथ्य भी विशेष ध्यातव्य है कि केवल प्रथम मण्डल ही नहीं, शेष नौ मण्डल भी अग्निदेव की स्तुति से ही प्रारम्भ किये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि स्वयं वैदिक ऋषियों की दृष्टि में अग्निदेव की महत्ता ही सर्वोपरि है। इसका मूल कारण है यज्ञ। यज्ञ ही तो वैदिक ऋषियों की धर्म-साधना का प्रमुखतम प्रभावी माध्यम रहा है। यज्ञ में अग्निदेव की भूमिका हवनकुण्ड की ज्वाला तक ही सीमित नहीं है, वरन् वे स्वयं अपनी बहुआयामी भूमिका में यज्ञ-रूप में उपस्थित होते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र में अग्नि को ही यज्ञ का देव, यज्ञ का आयोजक पुरोहित, यज्ञ करानेवाला ऋत्विक् या ब्रह्मा तथा आहुति डालनेवाला होता बतलाया गया है—

‘अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।’

यज्ञ का पावन अनुष्ठान पावन अनुभूतियों के सात्त्विक सम्प्रसार का अनूठा वैदिक विधान है। अग्निदेव इसके केन्द्र हैं। अग्निदेव के माध्यम से ही यज्ञकर्त्ताओं की स्तुतियाँ अन्य देवों तक पहुँचती हैं। यज्ञदेव के रूप में अग्निदेव की सद्भावनाओं के तार यज्ञकर्त्ताओं से भी जुड़े हैं तथा दूसरी ओर उपास्य देवसृष्टि से भी। वे सभी के मित्र और हितैषी हैं। वे जन-जन के उपकारक और उद्धारक तथा देवलोक के यश-विस्तारक हैं। उनकी आत्मीयता का प्रसार अपार है। अग्निदेव की इसी आत्मीयता के कारण उन्हें प्रत्येक परिवार का संरक्षक या स्वामी माना गया है। वे सचमुच 'गृहस्पति' हैं। परिवारों के सभी मंगल-कार्य उन्हीं की कृपा से सम्भव हैं।



अग्निदेव

विवाह-संस्कार से सम्बन्धित होने के कारण वे वर-वधू के सौभाग्यविधाता तथा सुख-समृद्धि और सन्तान के दाता हैं। वे भौतिक, मानवीय, दैविक— सभी स्तरों पर उपकारी, उद्धारक और उद्बोधक हैं। संस्कृत में ‘अग्नि’ शब्द पुल्लिङ्ग है। ऋग्वेद में अग्निदेव के सौम्य स्वरूप के साथ उनके विराट्, विकराल और प्रचण्ड रूपों के भीषण चित्र भी अंकित हुए हैं। जंगल में फैली भयंकर ज्वाला की लपटों को अग्निदेव की लप-लप करती जिह्वाओं के रूप में तथा जलते वृक्षों की चटकने की ध्वनि को उनकी भीषण दहाड़ के रूप में दर्शाया गया है।

अग्निदेव के अनेक सूक्ष्म आयाम उनके प्रतीकार्थों के रूप में प्रकट होते हैं। अग्निदेव ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के प्रतीक हैं। वे पृथिवी पर ज्वाला, अन्तरिक्ष में विद्युत् तथा आकाश में सूर्य के रूप में भास्वर हैं। आचार्य यास्क के अनुसार तो सारे देवता अकेले अग्निदेव में ही समाहित हैं— ‘अग्निः सर्वाः देवाः’। अग्निदेव ही अपने सूक्ष्म रूप में शरीरों में शक्ति, बुद्धि और आध्यात्मिक ज्योति के रूप में विद्यमान हैं। यज्ञ की वेदी ब्रह्माण्ड की एकता की प्रतीक है। इसी के माध्यम से यज्ञ में दी गयी आहुति की सुगन्धि विश्व में व्याप्त होती है। यह आत्मविस्तार का माध्यम है। उदारचेता यज्ञकर्त्ता विप्र को भी वेदी कहा जाता है तथा सरस्वती को भी। चेतना के पावन प्रसार का संवाहक होने के कारण मन्दिर के आधार-भाग और शिखर को भी वेदी कहा जाता है।

कुल मिलाकर अग्निदेव पावन प्रेरणा, नैतिक चेतना, शुभ संकल्पों और आध्यात्मिक ज्योति के प्रतीक हैं। उन्हें अनीति और आतंक के प्रसारक राक्षसों का संहार करनेवाला माना गया है। अग्नि की उपासना करते हुए उपासक असत्य को त्यागने और सत्य को ग्रहण करने का संकल्प करता है— ‘इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि’ (यजुर्वेद, 1.5) अर्थात् यह मैं असत्य का परित्याग करके सत्य को वरण करता हूँ।

परवर्ती काल में अग्निदेव ने महाकाव्यों और पुराणों में अनेक कथाओं में प्रवेश पाकर विविध रूप ग्रहण कर लिये हैं। महाभारत में अग्निदेव शस्त्र-भाण्डार के स्वामी हैं। वे कृष्ण को सुदर्शन चक्र और अर्जुन को गाण्डीव धनुष प्रदान करते हैं। वे राजा पृथु को ‘आजगव’ नामक धनुष देते हैं। पुराणों में ‘आजगव’ ने शिव के धनुष का रूप ले लिया है। वास्तव में तो शिवजी का तीसरा प्रलयकारी नेत्र अपने भौतिक रूप में तो आग्नेयास्त्र ही था। युद्धों में अग्निबाण के प्रयोग के उदाहरण सुलभ हैं। वस्तुतः पौराणिक उद्भावनाएँ भी सामाजिक जीवन की भौतिक एवं आध्यात्मिक

आवश्यकताओं से जुड़ी हैं। इसलिए पौराणिक उद्भावनाओं के स्तर पर भारतीय मनीषा ने ज्ञान के साथ ही विज्ञान के क्षेत्र में भी अनेक नयी परिकल्पनाएँ की हैं। ऊर्जा के रूप में एक ही अग्नि ज्ञानग्नि भी है, वही सौर ऊर्जा है, वही परमाणु ऊर्जा भी है। *रामायण* में सीता को हथेली पर अग्नि रखकर अपने सतीत्व का साक्ष्य प्रस्तुत करना पड़ता है। अग्निदेव सीता के सतीत्व की पुष्टि करके अपने सनातन सत्स्वरूप का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अग्निदेव के बहुआयामी स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए शौनक ऋषि *अथर्ववेद* (2.6.5) में स्तुति करते हुए कहते हैं— ‘घातक तथा शरीर-शोषक रोगों से मुझे पार लगाओ ! पापों से मुझे दूर ले जाओ। शत्रुओं से छुटकारा दिलाओ। अग्ने ! तुम मुझे समस्त दुरितों के पार ले जाओ। हमें पुत्र-पौत्रादि तथा धन दो।’

ख. सूर्यदेव

वैदिक देवों में सूर्यदेव का विशिष्ट स्थान है। सूर्यदेव द्युलोकस्थानीय देव हैं। अतः उनका स्थान स्वभावतः सर्वोच्च है। ऋषियों ने उनकी प्राकृतिक और दिव्य क्षमताओं की स्तुति की है। *ऋग्वेद* के प्रथम मण्डल के पचासवें सूक्त में सूर्य को देवताओं और मानवों का समान रूप से मित्र बताया गया है। वे अन्न से लोक-जीवों का पोषण करते हैं तथा अपने पावन प्रकाश की ऊर्जा से मानव-मेधा को प्रखरता प्रदान करनेवाले हैं। अपने पावन प्रकाश से जन-मन को पावन करने के कारण सूर्य को ‘पावक’ भी कहा गया है।

सूर्यदेव की चामत्कारिक किरणों में मानव के तन-मन को निर्विकारता और क्रियाशीलता प्रदान करने की अद्भुत शक्ति होती है। इसीलिए गायत्री मन्त्र में सूर्य भगवान् से प्रार्थना की गयी है कि सूर्यदेव का वह उत्तम प्रकाश हम सब मानवों की बुद्धियों को सत्प्रेरणा प्रदान करे। बुद्धियों की प्रेरक और प्रकाशक सूर्य-ज्योति में शरीरों के भी संशोधन और रोग-निवारण की अद्भुत क्षमता विद्यमान है। *ऋग्वेद* (10.50.11) में प्रार्थना की गयी है— ‘हे सुहृद्वत् तेजवाले सूर्य ! उदित होकर ऊर्ध्व द्यौ की ओर जाते हुए तुम हमारे हृदय के रोग और पीलिया रोग को नष्ट कर दो।’ जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि गुण-कर्म के आधार पर सूर्यदेव की सविता, मित्र, पूषा आदि अनेक नामों से अर्चना होती है। रोग-निवारण की जिस प्रवृत्ति का उपर्युक्त *ऋग्वेद* (10.50.11) में उल्लेख किया गया है, वही प्रवृत्ति किञ्चित् भिन्न रूप में *ऋग्वेद* (3.59.3) में मित्र को अर्पित प्रार्थना में भी मिलती है। वात-रोग



सूर्यदेव

से ग्रस्त ऋषि अर्चना करता है— ‘आदित्य के व्रत का पालन करते हुए हम सर्वथा रोगरहित हों। अन्नादि का सुख पाने के लिए और इस विस्तीर्ण धरातल पर सन्धिवात रोग से मुक्त घुटनों से चलते हुए सद्भावना प्राप्त करते रहें।’

वैदिक साहित्य में सूर्यदेव के ओजस्वी, पराक्रमी, शत्रु-संहारक, असुर-विजेता, सत्य-संरक्षक, ऊर्ध्वचेता आदि रूपों का बड़ा ही भव्य निरूपण हुआ है। भगवान् सूर्य सारे उदात्त मानव-मूल्यों के पावन प्रतीक हैं। वे अन्धकार पर आलोक की विजय-पताका फहरानेवाले तेज-पुञ्ज हैं। उनके विकृतिविनाशक और संस्कृति-सम्प्रसारक— दोनों रूपों पर एकसाथ प्रकाश डालते हुए ऋग्वेद (10.170.2) में कहा गया है— ‘विशेष दीप्तिमान्, विशाल और विशुद्ध, सर्वाधिक अद्भुत शक्ति का प्रदाता, ऋत (सनातन सत्य) पर अटल, द्यौ के स्तम्भ पर सुस्थित, अविनश्वर, शत्रुसंहारक, वृत्र नामक असुर का विनाशक, दस्युओं के संहारकों में श्रेष्ठतम, असुरों और शत्रुओं का हनन करनेवाला यह सूर्य उदित हुआ है।’

वैदिक सन्ध्योपासना के एक मन्त्र में सूर्य को जगत् की आत्मा— ‘सूर्य आत्मा जगतः’ (यजुर्वेद, 7.42) कहा गया है। सूर्यदेव विश्वचेतना के रूप में सभी प्राणियों की गतिविधियों के प्रेरक और प्रेक्षक हैं। वे अशुभ और अमंगलकारी शक्तियों के विरोधी और विनाशक हैं तथा शुभ और सुमंगलकारी शक्तियों के संरक्षक और हितैषी हैं। उनके इसी शुभकर स्वरूप को स्मरण करते हुए उनसे पापों से मुक्ति दिलाने और मंगलकारी मतियाँ और गतियाँ प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है—

‘विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।

यद्भद्रन्तन्नऽआसुव ।’

—यजुर्वेद, 30.3

सूर्यदेव के वैदिक रूप से उनके पौराणिक रूप का विकास हुआ। सूर्यदेव के अनुपम संरक्षण की प्रशंसा करते हुए ऋग्वेद (8.47) में आदित्य नामक गणदेवों से प्रार्थना की गयी है कि वे धन और सुरक्षा प्रदान करें। आदित्य नामक गणदेवों की संख्या बारह है। वे द्वादशादित्य हैं— धाता, मित्र, अर्यमा, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा तथा विष्णु। पुराणों के अनुसार अदिति दक्ष प्रजापति की पुत्री थी, जो मरीचि के पुत्र कश्यप ऋषि की पत्नी थी। पुराणों में अदिति को ही देवों की माता माना गया है। द्वादश आदित्यों के नामों से ही स्पष्ट है कि वे सभी सूर्य के ही विविध रूप हैं, जो विभिन्न गुणों और क्रियाकलापों के द्योतक हैं। ऋग्वेद में

विष्णु सूर्य के रूप में ही अंकित हुए हैं। वहाँ उन्हें ‘उरुक्रम’ तथा ‘त्रिविक्रम’ आदि नामों से अलंकृत किया गया है। यहाँ क्रम का अर्थ है डग और उरु का अर्थ है लम्बा या विस्तृत। लम्बे-लम्बे डग रखनेवाले को उरुक्रम कहा गया है। इसी प्रकार तीन डगों में ब्रह्माण्ड को नापनेवाले सूर्य को ‘त्रिविक्रम’ नाम दिया गया है। स्पष्ट है कि सूर्य के इस विराट् रूप में विष्णु भगवान् के उस पाँचवें वामनावतार की कथा के स्रोत निहित हैं, जिसमें उन्होंने वामन से विराट् होकर तीन डगों में तीनों लोकों को नाप दिया था और इस प्रकार उन्होंने दैत्यराज बलि की दानशीलता की परीक्षा ली थी तथा प्रसन्न होकर पाताल लोक का राजा बनाया था। ऋग्वेद (1.154) में सूर्य के इसी पराक्रमशाली स्वरूप का चित्रण किया गया है।

सूर्यदेव के मानवीकृत और दिव्यीकृत रूप में विराट् वैभव के दर्शन होते हैं। सात अश्वोंवाले रथ में विराजमान देव सविता (सूर्य) आकाश-मार्ग से विचरण करते हुए ब्रह्माण्ड के सभी जीवधारियों की शुभाशुभ गतिविधियों का निरीक्षण करते हैं। उनकी सप्त रश्मियाँ (बैंगनी, नीली, आसमानी, हरी, पीली, नीली, लाल) उनके रथ में जुते हुए अश्वों के प्रतीक हैं। पक्षियों के राजा गरुड़ के भाई अरुण उनके सारथी हैं। कभी विश्राम न करने के कारण अरुण को जंघाहीन (अनुरु) माना जाता है।

अपने कल्याणकारी स्वरूप के कारण सूर्यदेव सम्पूर्ण विश्व के परम पूजनीय देवताओं के रूप में प्रसिद्ध हैं। इसलिए वे जनमानस में अपनी गहरी पैठ बनाये हुए हैं। कितने ही व्रतोपवास, उत्सव, पूजा-पाठ आदि अनुष्ठान उनके प्रति जनता की अटल आस्था को प्रमाणित करते हैं। सूर्यदेव के सम्बन्ध में माघ मास के प्रथम दिन को ‘मकर-संक्रान्ति’ के महापर्व के रूप में व्रतसहित मनाया जाता है। इस दिन से सूर्यदेव उत्तरायण होते हैं और दिनमान बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है। उत्तरायण सूर्य विकासोन्मुख बुद्धि, नवल चेतना और सकारात्मक जीवन-दृष्टि का प्रतीक है। इसे शुभ समझा जाता है। महाभारत में उल्लेख है कि शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह ने प्राणोत्सर्ग के लिए सूर्य के उत्तरायण होने के शुभ अवसर की प्रतीक्षा की थी। उत्तरायण का सूर्य हमें दृढ़ संकल्पनिष्ठ और कर्मयोगी बनने की प्रेरणा और ऊर्जा प्रदान करता है। यह आसुरी वृत्तियों पर दैवी वृत्तियों की विजय का प्रतीक माना जाता है। इसी प्रकार सूर्यदेव के असंख्य उपकारों के प्रति आभार व्यक्त करने के लिए प्रतिवर्ष कार्तिक शुक्ल षष्ठी को ‘छठ’ महापर्व मनाया जाता है। भारतीय संस्कृति के सम्प्रसार के साथ विदेशों में भी सूर्य के प्रति विशेष आदर-भाव बढ़ता जा

रहा है। 'मिथ्रेइज़्म' (मित्रपूजा, सूर्यपूजा) प्राचीन काल से ही यूरोप में प्रचलित रही है। सन् 2012 में अमेरिका के बर्कले, कैलिफोर्निया, न्यूयॉर्क आदि 204 नगरों में 'सूर्य नमस्कार यज्ञ' आयोजित किये गये। वहाँ इस अनुष्ठान का प्रारम्भ सन् 2006 में हुआ, जो अब प्रतिवर्ष चालू है। धर्म ही नहीं विज्ञान के क्षेत्र में भी सौर ऊर्जा ने जीवन के विविध क्षेत्रों में अपनी महती उपयोगिता की धाक जमायी है।

सूर्यदेव तप, त्याग और अध्यात्म के प्रतीक हैं। वे आदान या लेने में कम तथा प्रदान या देने में अधिक आस्था रखते हैं। वे अपनी किरणों द्वारा पृथिवी से जितना जल ग्रहण करते हैं, वर्षाकाल में उसे हजार गुना अधिक मात्रा में लोकलाभार्थ पृथिवी को लौटा देते हैं—

‘सहस्रगुणमुत्सृष्टुमादत्ते हि रसं रविः’

—रघुवंश, 1.18.2

उस सहस्रों किरणोंवाले भगवान् सूर्यदेव को नमस्कार है— ‘नमोऽस्तु सूर्याय सहस्रभानवे’ तथा ‘ॐ श्रीसूर्याय नमः ।’

ग. इन्द्रदेव

‘इन्द्र’ शब्द इन्द्र धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ है महान् या ऐश्वर्यवान् होना। इन्द्र को देवराज होने का गौरव प्राप्त है। इनका स्वरूप प्रकृति से ही विकसित हुआ है। अपने मूल रूप में ये मेघों तथा वर्षा के देवता हैं। अनेक बार पर्वत पर जमी हुई बर्फ के न पिघल पाने के कारण जलराशि वहीं अवरुद्ध रहती थी और इन्द्रदेव वर्षा करने के अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते थे। प्राकृतिक स्तर पर इन्द्र ने इस प्रतिकूल परिस्थिति का कारण खोजा, तो ज्ञात हुआ कि घनघोर अन्धकार, वायु-वेग और शीत-लहर से बर्फ को पिघलने से रोकनेवाले ‘वृत्रासुर’ नामक एक मेघ ने ही जलधाराओं को पर्वत में बन्दी बना रखा है। अतः इन्द्रदेव ने दधीचि ऋषि की हड्डियों से निर्मित वज्र से उस वृत्रासुर का वध करके जलधाराओं को मुक्त किया। (द्वे ऋग्वेद, 1.84.13)

प्रकृति के प्रसंगों के उपर्युक्त मानवीकरण से ही इन्द्रदेव वर्षा के देवता के साथ ही एक शूरवीर योद्धा के रूप में भी विकसित हुए हैं। वृत्रासुर की भाँति ही अनेक अन्य शत्रु हैं— शंबर, विरोचन, बलि आदि दैत्य, जिनसे उन्हें बार-बार युद्ध करना पड़ता था। वास्तव में ये सब नाम उन प्रतिकूल प्राकृतिक स्थितियों को दिये



इन्द्रदेव

गये हैं जिनके कारण बर्फ पिघलने और वर्षा होने में बाधा उत्पन्न होती थी। अत्यधिक शीत, झंझा, अंधकार आदि को ही दैत्य बतलाया गया है।

वर्षा और शूरवीरता के साथ उनकी अभिरुचि का तीसरा विषय है सोम-पान। वे सोम-पान करानेवाले यज्ञकर्त्ताओं (यजमानों) के भारी हितचिन्तक बतलाये गये हैं। ऋग्वेद (10.110.1) में वे कहते हैं— ‘मेरे मन में आता है कि मैं गौ और अश्व प्राप्त करूँ और उन्हें यजमानों को दे दूँ। मैंने अनेक बार उनका सोम पिया है।’ इन्द्रदेव दीन-दुर्बलों और सज्जनों के हितकारी हैं और दुष्टों, आतंकियों के भयंकर शत्रु हैं। उनकी दानवीरता, दयावीरता, युद्धवीरता तथा धर्मवीरता के अनेक उदाहरण वैदिक साहित्य में सर्वत्र सुलभ हैं। उनकी वीरता के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हुए ऋषि गृत्समद कहते हैं— ‘हे लोगो ! वह इन्द्र है, जिसकी सहायता के बिना कोई भी विजय प्राप्त नहीं कर पाता और युद्ध करते हुए लोग आत्मरक्षा के लिए जिसका आह्वान करते हैं, जो सारे विश्व का प्रतिनिधि है, जो न हिलनेवालों को भी हिला देता है।’ (ऋग्वेद, 2.12.9)।

यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि विशिष्ट शौर्य और पराक्रम के कारण वैदिक देवों में इन्द्र की पृथक् पहचान है, किन्तु उनके व्यक्तित्व में वैदिक गरिमा और मर्यादा के स्थान पर कुछ स्थलों पर दर्प, आतंक और आधिपत्य की प्रवृत्तियाँ अनेक बार उन्हें दम्भी, निरंकुश, गर्वोन्मत्त शासक के रूप में प्रस्तुत करती हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद (4.25.7) के अनुसार इन्द्रदेव को सोमपान न करानेवाले कृष्ण पणि (व्यापारी) की उन्होंने सम्पत्ति नष्ट कर डाली और उसे मौत के घाट उतार दिया। शत्रुओं की सम्पत्ति लूटने-खसोटने के प्रसंग में तो उनकी तुलना जुआरी और शिकारी से की गयी है। ऋग्वेद (2.12.4) के अनुसार, जैसे शिकारी अपने शिकार को और जुआरी जीते हुए धन को समेटता है, वैसे इन्द्र ने शत्रु की सम्पत्ति को अपने आधिपत्य में ले लिया। कहीं-कहीं तो उनकी गर्वोक्तियाँ मर्यादा की सारी सीमाएँ लाँघ जाती हैं। ऋग्वेद (10.119.8-10) के अनुसार सोमपायी इन्द्रदेव दर्प-दीप्त वाणी में अपनी सत्ता और महत्ता का बखान करते हुए डींगें मारते हैं— ‘मैं चाहूँ तो इस विशाल पृथिवी को उठाकर यहाँ से वहाँ रख दूँ। मैं अपनी महिमा में आकाश और पृथिवी— दोनों से बढ़कर हूँ। मैं चाहूँ तो क्रोध से एक ही क्षण में पृथिवी और सूर्य को यहाँ या वहाँ खण्ड-खण्ड करके रख दूँ।’ सम्भवतः इन्द्रदेव की इन्हीं अति स्वच्छन्द, साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों ने ही आगे चलकर पौराणिक काल में ‘इन्द्रलोक’ के रूप में एक अखण्ड, वैभवशाली साम्राज्य ‘स्वर्गलोक’ की अवधारणा को जन्म दिया।

वैदिक काल के अन्त और पौराणिक काल के प्रारम्भ में ‘स्वर्गलोक’ के रूप में ‘इन्द्रलोक’ की उद्भावना की गयी। इन्द्र की पत्नी का नाम शची, पुत्र का नाम जयन्त तथा वाहन ऐरावत नामक हाथी है। इनका अस्त्र वज्र तथा धनुष इन्द्रधनुष है। इनकी सभा का नाम ‘सधर्मा’ है। इनकी राजधानी का नाम अमरावती है। इनके उद्यान का नाम ‘नन्दनकानन’ है, जिसमें कल्पवृक्ष, पारिजात आदि सदाबहारी वृक्ष हैं। ‘कामधेनु’ नामक गाय स्वर्ग के सभी निवासियों की सभी कामनाओं की पूर्ति करती है। स्वर्गपति इन्द्र की सभा में नाचनेवाली नर्तकियों को ‘अप्सरा’ कहा जाता है। ‘संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ’ नामक कोश में अप्सराओं को ‘स्वर्गविश्या’ तथा इन्द्र को ‘अप्सरापति’ बताया गया है।

मूल रूप में स्वर्गलोक की उद्भावना कर्मवाद की इस मान्यता पर टिकी थी कि सत्कर्मों को उसके पुण्यों के अनुरूप स्वर्ग और असत्कर्मों को उसके पापों के अनुरूप नरक भोगना पड़ता है। किन्तु कालान्तर में स्वर्गलोक अपनी पुण्यलोक की आभा खोकर अप्सरालोक या विलासलोक में परिणत हो गया। महाभारत, पुराणों और परवर्ती साहित्य में इन्द्र के निरंकुश अधिनायकवादी रूप के साथ ही उन्मुक्त विलासी और भोगवादी रूप की तीखी प्रतिक्रिया हुई और वृत्र को राक्षस के स्थान पर विष्णुभक्त ब्राह्मण के रूप में तथा इन्द्र को दुष्ट, दुराचारी, विलासी आदि रूपों में चित्रित किया जाने लगा। रामायण में इन्द्र गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या के साथ छलपूर्वक व्यभिचार करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीरामचरितमानस (अयोध्याकाण्ड, 301.1) में देवराज इन्द्र को कपट और कुचाल की सीमा बतलाया है— ‘कपट कुचालि सींव सुरराजू’।

इन्द्र के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई तीखी प्रतिक्रिया का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इन्द्रदेव जनमानस से विस्थापित होते चले गये तथा उनके स्थान पर जन-मन-हारी विष्णु भगवान् के लोकमंगलकारी राम तथा लोकरञ्जनकारी कृष्ण नामक अवतार स्थापित हो गये। ब्रजमण्डल में इन्द्र की पूजा का बहिष्कार करते हुए सर्वत्र गोवर्धनधारी, लीलाधर, कृष्ण की उपसना को अंगीकार किया गया। साथ ही शील, शक्ति और सौन्दर्य के भाण्डार भगवान् राम की भक्ति का भी देशव्यापी सम्प्रसार हुआ।

उत्थान-पतन, विकृति-संस्कृति के उलझाव में अटके इन्द्रदेव के अंतर्विरोधग्रस्त व्यक्तित्व के विवेचन और विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है कि

आतंक, आधिपत्य, भोगवाद की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों से ग्रस्त कोई भी महान्-से-महान् सत्ता जनमानस पर अपनी कोई अमिट छाप अंकित नहीं कर सकती और न ही इतिहास-पटल पर अधिक समय तक टिक सकती है। विवेक और संयम ही शक्ति को शालीनता प्रदान करते हैं।

इन्द्रदेव अपने आदर्श-रूप में तो शौर्य, बल, ऐश्वर्य, दुष्ट-दमन, जन-रक्षा आदि मानवीय गुणों से सम्पन्न हैं। सन्तुष्ट हो जाने पर वे देवेश समस्त प्राणियों को बल, तेज, सन्तान और सुख प्रदान करते हैं तथा उपासकों की कामनाओं को पूरा करते हैं। *महाभारत* के वनपर्व में कहा गया है—

‘इन्द्रो ददाति भूतानां बलं तेजः प्रजाः सुखम् ।

तुतः प्रयच्छति तथा सर्वान् कामान् सुरेश्वरः ॥’

अर्थात्, ‘इन्द्र प्रसन्न होने पर जीवधारियों को बल, तेज, सन्तान, सुख प्रदान करते हैं। वे देवेन्द्र सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं।’



छठा अध्याय पौराणिक त्रिदेव

1. ब्रह्मा

पौ

राणिक त्रिदेवों में ब्रह्मा जी का नाम सर्वप्रथम आता है। वेदों में उनके लिए ‘हिरण्यगर्भ’, ‘प्रजापति’, ‘विश्वकर्मा’, ‘ब्रह्मणस्पति’, ‘बृहस्पति’ नाम प्रयुक्त हुए हैं। उपनिषदों, पुराणों आदि बाद के ग्रन्थों में ‘ब्रह्मा’ नाम मुख्य रूप में मिलता है।

ऋग्वेद में प्रजापति की उत्पत्ति हिरण्यगर्भ अर्थात् सोने के अण्डे से बतायी गयी है। इसी विश्वगोलक को ब्रह्म का अण्ड अर्थात् ‘ब्रह्माण्ड’ भी कहा गया है। ऋग्वेद (10.121.1) के अनुसार सबसे पहले हिरण्यगर्भ विद्यमान था। वह उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण जगत् का स्वामी हो गया। उसने इस पृथिवी और द्यौ (आकाश) को भी धारण किया। ऋग्वेद (10.82.6) में प्रस्तुत किया गया विश्वकर्मा और विश्व की उत्पत्ति का दृश्य भी दर्शनीय है— ‘सर्वप्रथम आपः (जल) ने वह विश्वकर्मा-रूप गर्भ धारण किया, जिसमें सारे देवता एकसाथ इकट्ठे थे। उस अज (विश्वकर्मा) की नाभि में एक अण्ड विद्यमान था, जिसके भीतर सारे विश्व, भुवन आदि स्थित थे।’ आपः अर्थात् जल को ‘नार’ भी कहा जाता है। विश्वकर्मा की उत्पत्ति ‘नार’ से होने के कारण उन्हें ‘नारायण’ भी कहा जाता रहा है, किन्तु आगे चलकर पौराणिक युग में विष्णु भगवान् को नारायण नाम से सुशोभित किया गया। इसी प्रकार वैदिक युग में ‘अज’, ‘विधाता’, ‘स्वयम्भू’ नाम प्रजापति या ब्रह्मा के लिए ही प्रयुक्त होते थे, किन्तु पौराणिक युग में विष्णु और शिव का वर्चस्व होने पर ये सभी इन दोनों के लिए भी प्रयुक्त होने लगे।



ब्रह्मा

वैदिक युग में 'विश्वकर्मा', 'प्रजापति' आदि नामों से विख्यात विश्वस्रष्टा विधाता ही पौराणिक युग में मुख्यतः 'ब्रह्मा' नाम से प्रतिष्ठित हुए। वेदों और पुराणों के मध्य उपनिषद् सन्धिकालीन ग्रन्थ हैं। अतः उपनिषदों से ही ब्रह्मा के वर्चस्व का विकास प्रारम्भ हो जाता है। *मुण्डकोपनिषद्* में ब्रह्मा को विश्वविधाता के साथ ही विश्व का संरक्षक भी बतलाया गया है।

**‘ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव ।
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ॥’**

ब्रह्मा जी सृष्टि के कर्ता माने जाते हैं। कर्ता या विधाता के लिए अनन्त ज्ञान और अनन्त तप अभीष्ट है। उन्होंने तप और ज्ञान से अपने चारों मुखों से चारों वेदों और वेदांगों की सृष्टि की। सृष्टि-क्रम के विधिवत् विकास के लिए उन्होंने अपनी संकल्प-शक्ति से दक्ष, अत्रि अंगिरा, मरीचि, भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ और कर्दम नामक दस प्रजापतियों की सृष्टि की। ब्रह्माजी के दक्षिणांग से उत्पन्न स्वायम्भुव मनु और वामांग से उत्पन्न शतरूपा से मानवी सृष्टि का सुभारम्भ हुआ। दक्ष प्रजापति की अदिति और दिति नामक कन्याएँ कश्यप की पत्नियाँ थीं। अदिति से देवों का तथा दिति से दैत्यों का विकास हुआ। इस प्रकार देवता और दानव तथा मनुष्य और पशु आदि सभी ब्रह्मा की सन्तानें हैं।

स्पष्ट है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही दैवी और दानवी प्रवृत्तियाँ सक्रिय रही हैं तथा देवासुर-संग्राम भी होते रहे हैं। पराजय की स्थिति में त्रस्त और पीड़ाग्रस्त देवगण की आर्त पुकार सुनना और उनकी रक्षा की व्यवस्था के लिए विष्णु की सहायता लेना या उन्हें अवतार लेने के लिए प्रेरित करना भी सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी का ही परम धर्म था, जिसे वे तत्परता से निभाते थे। ब्रह्मा जी विश्व-निर्माण और विश्वकल्याण के प्रतीक हैं। वे वेद, विद्या, वाक्, नीति और धर्म के सजग संरक्षक हैं।

त्रिदेवों में पारस्परिक सहयोग और सद्भाव के अनूठे उदाहरण मिलते हैं, जो भारतीय संस्कृति के सर्वथा अनुरूप हैं, किन्तु कुछ स्थलों पर आपसी प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या-द्वेष के प्रसंग भी मिलते हैं, जो निश्चय ही अनुचित और दुःखद हैं। इन्द्रदेव तो महापराक्रमी होते हुए भी अपनी ही कुछ दूषित प्रवृत्तियों के कारण पौराणिक युग में पहुँचकर घोर पतन के गर्त में जा गिरे, किन्तु वैदिक युग के प्रजापति ब्रह्मा के सहज सात्त्विक स्वरूप को लाञ्छित करने के जो प्रयास कुछ पुराणों में देखने को मिलते हैं, वे सांस्कृतिक प्रदूषण का भद्दा नमूना पेश करते हैं। वे विश्वविधाता के

मस्तक पर ही कलंक नहीं हैं, वरन् विद्या, साहित्य और कला की देवी सरस्वती की गरिमा को भी गिराने में कोई कसर नहीं छोड़ते। *श्रीमद्भागवतपुराण* (3.12.28-33) के अनुसार ही 'सरस्वती का जन्म ब्रह्मा के मुख से हुआ था। ब्रह्मा अपनी पुत्री पर ही आसक्त हो गये। सभी प्रजापतियों ने अपने पिता के इस कुकृत्य को रोका और उन्हें समझाया। ब्रह्मा ने लज्जावश अपना वह शरीर त्याग दिया।' *मत्स्यपुराण* (3.4) में इस प्रसंग में अजीब, अंतर्विरोधी पद्धति अपनायी गयी है। वहाँ ब्रह्माजी की भोगलिप्सा को कुकृत्य भी घोषित किया गया है तथा इस सम्बन्ध में उन्हें निर्दोष भी ठहराया गया है। इस विषय में तर्क दिया गया है कि 'ब्रह्मा को इस कुकृत्य का दोष नहीं लगा, क्योंकि सरस्वती उनका अपना ही अंग थी। वेदों में ब्रह्मा और सरस्वती का अमूर्त आवास रहता है।'

यहाँ प्रश्न उठता है कि जब वाग्देवी सरस्वती अमूर्त है, तो उसके साथ कुकर्म की बात कहाँ से आ गयी? फिर दूसरा प्रश्न यह है कि जब शंका का समाधान पहले ही मालूम था, तो फिर क्या मिथ्या लोकापवाद के लिए ही ऐसे शंकाजनक प्रसंग की योजना की गयी? सृजनशीलता ब्रह्माजी का परम धर्म है। इसी रचनाधर्मिता के कारण कवि भी प्रजापति कहलाता है— '**अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः**।' कविता कवि की आत्मजा है, तो सरस्वती ब्रह्मा जी की आत्मजा अर्थात् पुत्री है। आत्मजा के प्रति प्रेम भी आत्मिक होता है। अतः किसी भी स्थिति में आत्मजा को पत्नी मानना सर्वथा अनुचित है। सरस्वती, शतरूपा, गायत्री, सावित्री, श्रद्धा, मेधा— सभी प्रजापति की आत्मजाएँ हैं तथा मूलतः सरस्वती के ही विविध नाम और रूप हैं। भाव-भंगिमाओं के अनुरूप वाग्भंगिमाओं के सैकड़ों रूपोंवाली सरस्वती को शतरूपा कहना सर्वथा युक्तिसंगत है।

सामान्यतः ब्रह्मा ही विश्व-विधाता के रूप में प्रतिष्ठित हैं, किन्तु *शिवपुराण* में शिव को तथा *विष्णुपुराण* में विष्णु को अज, स्वयम्भू और विधाता के रूप में स्थापित करके पद-प्रतिष्ठा की प्रतिस्पर्धा में ब्रह्मा को भी पीछे छोड़ने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। यही नहीं, स्वयं शिव और विष्णु में भी विश्वविधाता ब्रह्मा के भी विधाता बनने की होड़ लगी है। *शिवपुराण* में उल्लेख है कि सदाशिव की इच्छा से विष्णु की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ। शिव ने अपनी दाहिनी भुजा से ब्रह्मा को जन्म देकर कमल पर छोड़ दिया। इस पर दोनों में विवाद छिड़ गया। दोनों स्वयं को ब्रह्मा का पिता घोषित कर रहे थे।

निश्चय ही प्रतिस्पर्धा में पिछड़ जाने से ब्रह्मा को भारी क्षति उठानी पड़ी है। जिस प्रकार शैव और वैष्णव-भक्ति के आन्दोलन चले, वैसा कोई भक्ति-आन्दोलन ब्रह्मा के नाम पर नहीं चला। शैवों और वैष्णवों को गुप्तवंशीय राजाओं का भारी समर्थन मिला, किन्तु ब्रह्मा के उपासकों को कोई राजकीय समर्थन नहीं मिला। विष्णु और शिव के देश और विदेश में असंख्य मन्दिर हैं, किन्तु ब्रह्मा का अजमेर के पास पुष्कर में एक ही मन्दिर है, जो प्रख्यात है। जनजीवन के साथ जैसा गहरा जुड़ाव विष्णु और शिव का रहा, वैसा ब्रह्मा का नहीं।

वस्तुतः देवताओं में ब्रह्माजी की भूमिका एक स्थितप्रज्ञ, निष्काम कर्मयोगी की रही है। उनके मुख से निःसृत वेद ज्ञान के प्रतीक हैं। सरस्वती ज्ञान-दृष्टि से प्रेरित कल्याणी वाणी है। यह सृजनधर्मी आत्मिक ऊर्जा है। वास्तव में आत्माभिव्यक्ति ही व्यक्ति की सच्ची शक्ति होती है। उनकी अष्ट दृष्टिसम्पन्न चतुर्भुजी मुद्रा उनके सुनियोजित, बहुआयामी विश्वविधान या निर्माण-योजना की द्योतक है। उनके एक हाथ में अक्षमाला, दूसरे में जल से पूर्ण कमण्डलु, तीसरे में पुस्तक है। चौथा हाथ अभय मुद्रा में विराजमान है। अक्षमाला मन्त्र, जाप और ध्यान का प्रतीक है। जलयुक्त कमण्डलु सृजन और सिंचन या पोषण का द्योतक है, पुस्तक पवित्र वैदिक ज्ञान का बोध कराती है। ब्रह्मा कभी कमल पर तो कभी हंस पर समासीन दिखलायी पड़ते हैं। कमल स्वच्छता और निर्लिप्तता का प्रतीक है, तो हंस नीर-क्षीर-विवेक का। उनका समूचा व्यक्तित्व और कृतित्व उदात्त जीवन-मूल्यों और आदर्शों का मूर्त-रूप है। इसीलिए समूचा ब्रह्माण्ड उनकी सत्ता की महत्ता के प्रति नतमस्तक है। उनके व्यक्तित्व की महिमा का समारोहपूर्वक संकीर्तन *महाभारत* के सभापर्व के ग्यारहवें अध्याय में दर्शाया गया है, जिसमें सारी सृष्टि के देवी-देवता पवित्र पूजा-भावना से उनका कीर्तिगान करते हुए उनकी अर्चना-वन्दना करते हैं। इस संकीर्तन-सभा का नाम ही है ब्रह्मा-सभा। सच है कि कोई कितना ही धुआँ उगलता रहे, सूर्य कभी धूमिल होने से रहा !

ब्रह्मा जी की महिमा महाभारत-काल में चरमोत्कर्ष पर थी। ईसा की चौथी-पाँचवीं शती से उनकी प्रतिष्ठा में कमी आयी। वास्तव में, ब्रह्मा के नाम पर कोई भक्ति-सम्प्रदाय प्रचलित नहीं हो सका। इसलिए उनके पूजा-स्थल कम ही पाये जाते हैं। ब्रह्माजी का सर्वाधिक प्रसिद्ध मन्दिर और तीर्थ राजस्थान में अजमेर के निकट पुष्कर में हैं, जहाँ प्रतिवर्ष विशाल मेला भी लगता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अकेले हरियाणा में कुरुक्षेत्र के आस-पास 48 कोस की परिक्रमा में ब्रह्मा से

सम्बन्धित छह ऐतिहासिक तीर्थ हैं— ब्रह्मसर (कुरुक्षेत्र), ब्रह्मयोनि तीर्थ (पेहवा), ब्रह्मावर्त तीर्थ (प्रभावत, अब प्रभोत), ब्रह्मोदुम्बर तीर्थ (शीलाखेड़ी), ब्रह्मतीर्थ (धाणा) तथा ब्रह्मतीर्थ (सावन्ध, अब स्योँध)। इनमें से प्रथम तीन लुप्त सरस्वती नदी के तट पर स्थित हैं। इनकी ऐतिहासिकता का प्रमाण यह है कि इन सभी का वर्णन *महाभारत* के वनपर्व में मिलता है। अन्तिम को छोड़कर शेष पाँच का विवरण *वामनपुराण* में भी मिलता है। अन्तिम का वर्णन *महाभारत* में तो है ही, साथ ही कूर्म, *भागवतपुराण* और *ब्रह्मपुराण* में भी मिलता है। इनमें सबसे प्रसिद्ध है कुरुक्षेत्र का ब्रह्मसर, जिसे ‘ब्रह्मसरोवर’ भी कहा जाता है। इसके मध्य में सर्वेश्वर महादेव का भव्य मन्दिर है। इसकी महिमा के सम्बन्ध में *महाभारत* (वनपर्व, 83.112) में लिखा गया है कि वहाँ पहुँचकर व्यक्ति ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है— ‘तत्र समासाद्य नरव्याघ्र ब्रह्मलोकं प्राप्यते’। *वामनपुराण* के अनुसार वहाँ स्नान करके मोक्ष का इच्छुक व्यक्ति पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता है— ‘तत्र स्नात्वा मुक्तिकामः पुनर्योनिं न पश्यति’। कुरुक्षेत्र के निकट अमीन रोड पर सन् 2000 में निर्मित भव्य ब्रह्मा-मन्दिर इस तथ्य की पुष्टि करता है कि ब्रह्मा के प्रति जनता की आस्था अक्षुण्ण है।

2. विष्णु

त्रिदेवों में विष्णु को ही ‘भगवान्’ कहकर विशेष महिमा से मण्डित किया जाता है। वे ही ऐसे सौभाग्यशाली देव हैं, जिनके अनेक अवतार हुए हैं। वैदिक युग में विष्णु आदित्य (सूर्य) के रूप में एक द्युस्थानीय देव हैं। इस प्रकार समूची देव-सृष्टि में ये ही एक ऐसे देव हैं, जिन्हें सूर्य-रूप में वैदिक त्रिदेवों में तथा विष्णु-रूप में पौराणिक त्रिदेवों में स्थान पाने का विरल गौरव प्राप्त हुआ है।

वैदिक देव-सृष्टि से ही, पौराणिक देव-सृष्टि का विकास हुआ। वैदिक युग के प्राकृतिक परिवेश के देव ही पौराणिक युग में मानवाकार में परिणत हो गये हैं। इस तथ्य को विष्णुदेव के विकास के माध्यम से भली प्रकार समझा जा सकता है। *ऋग्वेद* में आदित्य कोई एक देव नहीं है। वह धाता, मित्र, अर्यमा, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान, पूषा, त्वष्टा तथा विष्णु नामक बारह गणदेवों का समूह है। इनमें विष्णु भी सम्मिलित हैं। स्पष्ट है कि *ऋग्वेद* में सूर्य को ही विष्णु कहा गया है। सूर्य ही प्रातः मध्याह्न तथा सायं के रूप में तीन डगों में ही समूचे ब्रह्माण्ड को नाप देता है। मानवीकरण की इस प्रवृत्ति के कारण सूर्यदेव को लम्बे डग रखने वाला ‘उरुक्रम’



भगवान् विष्णु

कहा गया है। यहाँ ऊरु का अर्थ है दीर्घ तथा क्रम का अर्थ है डग या पग। तीन डग में ब्रह्माण्ड को नापने के कारण उसे 'त्रिविक्रम' भी कहा गया है। ऋग्वेद (1.154.1) में विष्णु-रूप सूर्य के इसी पराक्रमी स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए ऋषि कहता है, "मैं उस विष्णु के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करता हूँ, जिसने सारे पार्थिव लोकों को नाप डाला था, जिसने देवों के एकसाथ बैठने और रहने के स्थान (गोलोक) को स्तम्भ के समान थाम लिया था, जिसने विस्तीर्ण विश्व को केवल तीन डग में ही लॉघ दिया था।"

सूर्य का यही उरुक्रम और त्रिविक्रम रूप पौराणिक विष्णु के वामनावतार की उद्भावना का मूल प्रेरणा-स्रोत माना जाता है। अतः यहाँ वामनावतार की एक संक्षिप्त झलक पाना भी प्रासंगिक होगा। ब्रह्मपुराण के अनुसार दैत्यों का प्रतापी और विष्णुभक्त राजा बलि जब अश्वमेध यज्ञ कर रहा था, तब विष्णु भगवान् बौना आकार ग्रहण करके ब्राह्मण-वेष में वहाँ जा टपके। इस पावन अवसर पर बलि ने जब उनसे कुछ माँगने को बार-बार अनुरोध किया, तो वामन भगवान् ने केवल तीन पग भूमि ही माँगी। राजा बलि इसके लिए सहर्ष तैयार हो गये। तभी विष्णु सहसा वामन से विराट् हो गये और दो पगों में ही तीनों लोक नाप दिये। तीसरे पग के लिए राजा बलि ने विनम्रतापूर्वक स्वयं को समर्पित कर दिया और मुख नीचे (रसातल) की ओर करके पृथिवी पर लेट गये। विष्णु ने अपना पैर उनकी पीठ पर रखा तथा उनकी दानवीरता और भक्ति-भावना से अभिभूत होकर उन्हें रसातल का राजा होने का वर दिया।

'विष्णु' के साथ संयुक्त 'भगवान्' शब्द स्वयं में बहुत ही सार्थक है। इसमें उनके वैदिक रूप की भी झाँकी मिलती है और पौराणिक देव-सृष्टि की लोकचेतना और मानवीय संवेदना भी। 'भगवान्' शब्द में निहित 'भग' का अर्थ सूर्य भी है और लौकिक सौभाग्य और ऐश्वर्य भी। मानवीय संवेदना से सम्पन्न होने के कारण भक्तों के तो वे सर्वस्व ही हैं तथा भक्त भी इनके लिए सर्वस्व हैं। लोकजीवन में व्याप्त अधर्म के विनाश और धर्म की रक्षा तथा विकास के लिए ही विष्णु भगवान् अनेक बार अवतार लेकर धरा पर साकार प्रकट हुए। विष्णुसहस्रनाम (137) (महाभारत, अनुशासनपर्व) में कहा गया है कि शास्त्रों में जितने भी प्रकार के धर्म बताये गये हैं, उनमें आचार ही प्रथम धर्म माना गया है तथा आचार से ही धर्म की उत्पत्ति होती है तथा धर्म के स्वामी तो अच्युत विष्णु भगवान् ही हैं—

‘सर्वांगमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।

आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥’

विष्णु भगवान् के नामों के आधार पर भी उनके व्यक्तित्व के अनेक आयाम उजागर होते हैं। यहाँ उनके केवल कुछ ही नामों पर विचार करना सम्भव होगा। 'विष्णुसहस्रनाम' में इन्हें 'गुरु' नाम से अलंकृत किया गया है, जो उनकी सर्वविद्यासम्पन्नता का द्योतक है। ब्रह्मा आदि को भी ब्रह्म-विद्या प्रदान करने के कारण इन्हें 'गुरुतम' नाम से विभूषित किया गया है। नीतिस्वरूप होने के कारण इनका एक नाम 'नयः' है। समूचे जगत् का नायक होने के कारण इन्हें 'नेता' नाम से गौरवान्वित किया गया है। इनका 'वेश्वम्' नाम इनकी वैश्विक सत्ता और महिमा को उजागर करता है।

लोकरक्षण और लोक-पालन से विष्णु भगवान् का जुड़ाव अत्यधिक गहन होने के कारण उनकी ऐतिहासिक प्रासंगिकता सर्वाधिक है। विष्णु भगवान् के नाम पर भागवत-सम्प्रदाय का विकास ईसा की दूसरी शती में शुंग-वंश से ही प्रारम्भ हो गया था। किन्तु उसका चरम विकास भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग 'गुप्त-वंश' (320-551 ई.) के शासनकाल में हुआ। भागवत-सम्प्रदाय का ही दूसरा नाम वैष्णव-सम्प्रदाय है। इस धर्म के परम अनुयायी गुप्तवंशीय राजा विष्णु भगवान् के प्रति अपनी गहरी निष्ठा के कारण 'परमभागवत' कहलाते थे। आगे चलकर मध्यकाल (11वीं शती से 18वीं शती के मध्य तक) में उपस्थित घोर संकट-काल में इसी वैष्णव-सम्प्रदाय ने विराट् भक्ति-आन्दोलन का रूप ग्रहण किया और अत्याचारी मुस्लिम-शासकों के उत्पीड़न और शोषण से दम तोड़ती हिन्दू-जनता को आस्था, आशा, विश्वास, धैर्य का सबल सम्बल प्रदान किया तथा विषमताओं के मध्य भी स्वयं को तथा अपने धर्म को बचाये रखने का हौसला और भरोसा दिया। उत्तर भारत के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के समानान्तर दक्षिण भारत में भी आलवार भक्ति-आन्दोलन के रूप में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन चल रहा था। इस प्रकार समूचा भारत वैष्णव-भक्ति की विमल भाव-धारा में अवगाहन कर रहा था।

वैष्णव भक्ति के व्यापक प्रसार का रहस्य इस तथ्य में निहित है कि विष्णु भगवान् तन से, मन से और आचरण से नितान्त मानवीय हैं। वे संवेदना के सागर हैं, अतः करुणामय, कृपालु और भक्तवत्सल हैं। वे जितने लोकमंगलकारी हैं, उतने ही लोकरञ्जनकारी भी हैं। उनका स्वरूप अत्यन्त मनोरम है, जिसमें 'सत्यं, शिवं

सुन्दरम्' का सुखद सामञ्जस्य है। वे जितने बोधगम्य हैं, उतने ही भावगम्य। चिन्तन, भावना और कल्पना के संयोजन से उनके सौम्य स्वरूप का बहुत ही कलात्मक निर्माण हुआ है। कल्पना और बौद्धिकता के साँचे में ढली भावुकता ने नियन्त्रित होकर प्रतीकात्मक रूप ग्रहण कर लिया है। प्रतीकात्मकता के कारण उनका स्वरूप अनेक गूढ़ अर्थों की अभिव्यञ्जना करता प्रतीत होता है।

यहाँ विष्णु भगवान् के स्वरूप की प्रतीकात्मकता पर विचार करना उचित होगा। विष्णु भगवान् विश्व के पालनकर्ता, सुशासक हैं। उनकी बायीं ओर विराजमान लक्ष्मी जी धन-वैभव की प्रतीक हैं। शासन-व्यवस्था के सुसंचालन के लिए विष्णु भगवान् का लक्ष्मीपति होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि सम्पत्ति के बिना शासन चल ही नहीं सकता। विष्णु भगवान् का क्षीर सागर में शेष-शय्या पर विराजमान होना या शयन करना भी अपने भीतर गूढ़ प्रतीकार्थ लिये हुए है। शेष का अर्थ है कौशलपूर्वक व्यय करते हुए चतुराई से की गयी बचत। यदि प्रतिवर्ष की बचत को एक फन माना जाये, तो सुदीर्घ काल में सहस्र फनवाला शेष बनता है। इस शेष पर पूरी सजगता से नियन्त्रण रखना पड़ता है। यदि प्रमादवश इसे हावी होने का मौका मिल जाये, तो यह सहस्रों फनों से फुफकारता ही नहीं, डसता भी है। आशय है कि अनियन्त्रित शेष राशि अपने स्वामी और उसके परिजनों को अनेक दुर्व्यसनों में फँसाकर सर्वनाश के कगार पर ला पटकती है। यदि इस पर सावधानी से नियन्त्रण रखा जाये, तो यही शेषनाग लक्ष्मीपति के शीश पर छत्र बनकर अपने सहस्र फनों से छाया करता है। अर्थ-प्रबन्धन-कौशल के कारण लक्ष्मीपति विष्णु भगवान् को शेष की यह छत्रच्छाया सदैव सुलभ है। वे शेष-शय्या पर शयन के कारण ही 'शेषशायी' कहलाते हैं। इन्हीं अनूठी क्षमताओं के कारण उन्हें अपार यश मिलता है। क्षीर सागर उनकी पूरे परिवेश में व्याप्त धवल कीर्ति का प्रतीक है।

विष्णु भगवान् चतुर्भुज हैं। उनका यह चतुर्भुज रूप बहुविध कर्मठता और कर्तव्यपरायणता का प्रतीक है। उनके चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म विराजमान हैं। शंख जागरण, उद्बोधन, तत्परता और सावधान रहने का सन्देश देता है। शान्ति के समय वह विचार-विमर्श के लिए एकत्र होने तथा युद्ध के समय युद्धार्थ तैयार होने का सन्देश देता है। विष्णु के अवतार कृष्ण महाभारत-युद्ध के समय अपने 'पाञ्चजन्य' नामक शंख का ही यथासमय उपयोग करते हैं। चक्र एक चक्रीय गतिवाला प्रक्षेपास्त्र है, जो शत्रु का विनाश करके वापस अपने स्वामी के पास लौट आता है। कृष्ण के पास यही सुदर्शन चक्र के रूप में विद्यमान है। गदा प्रत्यक्ष प्रहार

का शस्त्र है, जो आमने-सामने के युद्ध में काम आता है। इस शस्त्र-अस्त्र का मूल सन्देश यही है कि विष्णु भगवान् सरीखे शान्तिप्रिय शासक को भी कुशल योद्धा होना चाहिये तथा युद्ध के लिए सदैव सन्नद्ध रहना चाहिये। तभी उसका विश्वशान्ति का सनातन सन्देश सार्थक सिद्ध होता है। विष्णु भगवान् अपने चौथे हाथ के पद्म (कमल-कुसुम) के माध्यम से शान्ति, निर्मलता, तटस्थता का यही पावन सनातन सन्देश देते हैं। शान्ति का सन्देश जुझारू योद्धा को ही शोभा देता है, निर्बल, निकम्मे कायर को नहीं। शान्ति वही स्थापित रख सकता है, जो शान्ति भंग करनेवाले असुरों के शीश भंग कर सके। विष्णु भगवान् के कन्धे पर शोभित 'शार्ङ्ग' नामक धनुष अपनी प्रहार-क्षमता के कारण *भागवतपुराण* में साक्षात् काल-रूप कहा गया है। उनका नीला तन समुद्र की गहनता और आकाश के विस्तार को अपने भीतर समेटे हुए है। पीताम्बर उनके वेद-ज्ञान की दिव्य आभा का प्रतीक है। आशय यह है कि उनका तन उनके अन्तर के आध्यात्मिक आलोक से विभासित है।

विष्णु भगवान् का वाहन गरुड़ है। गरुड़ गति और शक्ति का प्रतीक है। एक व्यवस्थापक और कुशल शासक की सच्ची शक्ति उसकी गतिशीलता में निहित होती है। गतिशीलता के द्वारा ही वह पूरी व्यवस्था के सारे ताने-बाने का सूक्ष्मता से निरीक्षण और परीक्षण कर सकता है तथा समुचित दिशा-निर्देश दे सकता है। गरुड़ की लोकप्रियता का प्रमाण यह है कि इण्डोनेशिया के प्रथम राष्ट्रपति सुकर्ण (1945-1967) ने अपनी वायु-सेवा (Air Service) का नाम 'गरुड़' (Garuda Indonesia) रखा था, जो अब भी प्रचलित है। गतिशीलता के आधार पर ही गरुड़ को विष्णु भगवान् के ध्वज पर अंकित किया गया है। निम्नलिखित श्लोक में इस तथ्य का उल्लेख हुआ है—

‘मंगलं भगवान्विष्णुः मंगलं गरुडध्वजः ।

मंगलं पुण्डरीकाक्षः मंगलायतनोऽहरिः ॥’

वैष्णव भक्ति के प्रसार में अवतारवाद का विशेष योगदान रहा है। यों तो उनके अवतारों की संख्या नारायण (विराट् पुरुष) से लेकर भावी अवतार कल्कि तक चौबीस है, किन्तु उनकी दशावतार-परम्परा ही अधिक प्रसिद्ध है। दशावतार-परम्परा में परिगणित विशिष्ट अवतार हैं— मत्स्य, कच्छप, वराह, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि। इन अवतारों में दो ही ऐसे हैं, जो विशेष लोकप्रिय हुए तथा जिनकी असाधारण लोकप्रियता के कारण वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अखिल

भारतीय स्तर पर प्रसार हुआ। ये दो हैं— मर्यादापुरुषोत्तम राम तथा राधावल्लभ कृष्ण। विष्णु की भाँति विष्णु भगवान् के अवतारों की महिमा भी अपरम्पार है। जिस प्रकार कृष्ण को ‘कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्’ कहकर भगवत्स्वरूप घोषित किया गया, उसी प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने राम को ‘विग्रहवान् धर्म’ कहकर गौरवान्वित किया। महाकवि तुलसीदास ने तो राम को एक तर्कातीत, दुर्गाह्य, असीम सत्ता के रूप में पारिभाषित करते हुए लिखा है— ‘राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी’ (श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, 120 (घ).2)।

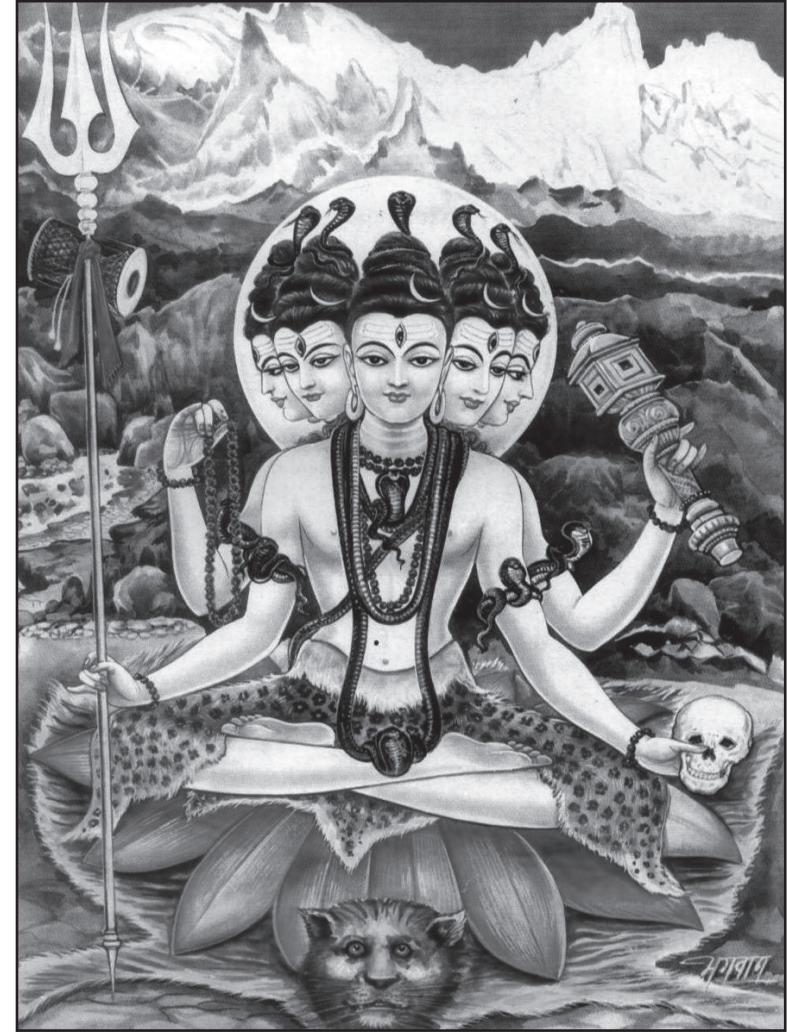
विष्णु भगवान् के असंख्य मन्दिर पूरे भारत में विद्यमान हैं। इनमें परम प्रसिद्ध है हिमालय के क्रोड़ में स्थित श्री बदरीनारायण का मन्दिर, जो चार धामों में परिगणित है। दिल्ली, जयपुर, कुरुक्षेत्र में स्थित बिड़ला-बन्धुओं द्वारा निर्मित ‘लक्ष्मी-नारायण मन्दिर’ (बिड़ला मन्दिर) भी भव्यता में अनुपम हैं। दक्षिण भारत के आन्ध्रप्रदेश में परम प्रख्यात श्री वेंकटेश्वर बालाजी का मन्दिर है, जहाँ बालाजी की प्रतिमा में विष्णु और शिव— दोनों के स्वरूप समन्वित हैं। तमिलनाडु में तिरुचिरापल्ली में श्रीरंगनाथ स्वामी का मन्दिर भारत का सबसे बड़ा मन्दिर है। यहाँ विष्णु भगवान् ही श्रीरंगनाथस्वामी के नये रूप-रंग में उपस्थित हैं।

अन्त में, विष्णु भगवान् के श्रीचरणों में यह स्तुति प्रस्तुत है—

‘शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम् ।
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ॥
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम् ।
वन्दे विष्णु भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥’

3. शिव

इतिहास और कल्पना के मेल से निर्मित पौराणिक कथाओं में शिव भी ब्रह्मा की वंश-परम्परा में उत्पन्न होने के कारण एक देववंशी शासक थे। अनेक विद्वान् शिव को पौराणिक देवता के साथ ही इतिहास-पुरुष भी मानते हैं। शासक के नाते उनमें प्रजापालन के साथ ही प्रजारक्षण के लिए वांछित शौर्य के वंशगत संस्कार थे। ‘हर हर महादेव’ का नारा उनके पराक्रमी स्वरूप की पुष्टि करता है। शत्रु का दम्भ दूर करने की क्षमता के कारण ही वे ‘हर’ कहलाते हैं। वैदिक शिव रुद्र से ही पौराणिक देव शिव का विकास हुआ है। रुद्र जितने भयानक और उग्र हैं, उतने ही जनरक्षक



भगवान् शिव

भी हैं। *शिवपुराण* (7.4) के अनुसार शिव ही दैत्यों के विनाश के लिए कश्यप की पत्नी वसुधा के गर्भ से ग्यारह रुद्रगण के रूप में उत्पन्न हुए। इनमें 'शम्भु', 'भव', 'कपाली' नाम शिव का ही बोध कराते हैं। कश्यप के पिता मरीचि थे, जो ब्रह्मा जी के मानस पुत्र थे तथा दस प्रजापतियों में से एक थे। इस प्रकार शिव ब्रह्मा की वंश-परम्परा में आते हैं। पौराणिक युग में जिस प्रकार दस प्रजापतियों के रूप में ब्रह्मा की वंश-परम्परा रही है, उसी प्रकार ग्यारह रुद्रगण के रूप में शिव की भी वंश-परम्परा रही है, जिनका राज्य हिमालय के व्यापक क्षेत्र पर था। इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि उनके साथ जुड़े हुए भूगोल से होती है। शिवजी का 'कैलासपति' नाम सिद्ध करता है कि कैलास शिव की राजधानी थी। उनका 'काशीनाथ' नाम इस तथ्य का द्योतक है कि उनका राज्य काशी तक व्याप्त था। हरद्वार उनके राज्य का प्रवेश-द्वार था। दक्ष प्रजापति हिमालय (हिमगिरि) की पुत्री पार्वती से इनका विवाह हुआ था। पार्वती (सती) के पिता दक्ष प्रजापति द्वारा कनखल में आयोजित यज्ञ को शिव जी ने ध्वस्त किया था। हिमालय की ही पुत्री गंगा को जटाओं में रोकने (और भगीरथ के अनुरोध पर छोड़ने) के कारण इनका एक नाम 'गंगाधर' है।

शिव पराक्रम और शौर्य के देवता हैं। शौर्य की परिणति शिवत्व में होती है। शक्ति और पराक्रम के बिना शिवत्व सम्भव नहीं है। शिवजी के धनुष का नाम 'पिनाक' है। इसलिए शिवजी को 'पिनाकी' और 'पिनाकपाणि' भी कहा जाता है। इनके विशिष्ट अस्त्र का नाम 'पाशुपतास्त्र' है। 'खड्गांग' इनका दण्ड है। इसके कारण इनका एक नाम 'खड्गांगधर' है। युद्ध में आत्मरक्षार्थ वे कवच के रूप में व्याघ्र चर्म या मृगचर्म धारण करते हैं। उन्होंने देवताओं के शत्रु असुरों के तीन नगरों का विनाश किया। इसलिए ये 'त्रिपुरारि' या 'त्रिपुरहर' कहे जाते हैं। इन त्रिपुरों के शासक कमलाक्ष, ताराक्ष, विद्युन्माली नामक बलशाली असुर थे। इस प्रकार शिव देव-साम्राज्य के शक्तिशाली संरक्षक और असुरों के विध्वंसक थे।

शिव युद्ध-कला में ही कुशल नहीं हैं, अपितु नृत्य-कला में भी पारंगत हैं। इनके नृत्य पर भी इनके युद्ध की उग्रता और उद्धतता की छाप है। अतः उसे 'नृत्य' न कहकर 'नृत्त' कहा जाता है। इसके विपरीत पार्वती के कोमल नृत्य का नाम 'लास्य' है। शिवजी के 'नृत्त' का नाम 'ताण्डव' है। प्रलयंकर रूप में वे भीषण मुद्रा में 'ताण्डव' नृत्त करते हैं। नृत्त में निपुण होने के कारण इन्हें 'नटवर', 'नटराज', 'नटेश्वर' आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

शिवजी के बहुआयामी स्वरूप को उजागर करनेवाले कुछ अन्य प्रमुख

नामों पर विचार करना भी यहाँ उचित होगा। स्वयं परमेश्वरस्वरूप होने के कारण शिव का एक नाम है 'ईशान'। सनातन मंगलकारी होने के कारण वे 'सदाशिव' कहलाते हैं। समुद्र-मंथन के समय निकले विष को जब अन्य कोई नहीं पी सका, तो इन्होंने सहर्ष उसे पीना स्वीकार किया, जिससे इनका कण्ठ नीला पड़ गया। इसलिए इनका नाम 'नीलकण्ठ' पड़ गया। सम्पूर्ण सृष्टि के नियन्ता और सूत्रधार होने के कारण उनका एक नाम 'सर्वेश्वर' है। उनके रुद्र-रूप को घोर तथा शिव-रूप को 'अघोर' कहा जाता है। सृष्टि में नाश और निर्माण की क्रियाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं। शिव की पूजा लिंगोपासना के रूप में भी प्रचलित है। लिंग निर्माण या सृजन का प्रतीक है। शिव का एक नाम 'लिंगराज' भी है। शिवजी भक्तों की भक्ति से तत्काल प्रसन्न हो जाते हैं और उन पर करुणा, कृपा और वरदानों की वर्षा करने लगते हैं। इसलिए वे 'आशुतोष' नाम से विख्यात हैं। सभी प्राणियों के रक्षक-पोषक, स्वामी होने के कारण वे 'भूतनाथ' कहलाते हैं। माया के पाश में बँधे हुए सभी भव-बन्धनग्रस्त पशुओं (पाशबद्ध जीवों) को पाशमुक्त करने की क्षमता के कारण वे 'पशुपति' नाम से विभूषित किये जाते हैं। सूर्य-चन्द्र और अग्नि के तीन नेत्रों से युक्त होने के कारण वे 'त्रिनेत्र' अथवा 'त्र्यम्बक' नाम से सुशोभित हैं।

शिव जी की आकृति और विभिन्न अवयवों के प्रतीकार्थ अपने भीतर गहन सन्देश सँजोये हुए हैं। वे सर्वव्यापी महेश्वर हैं। उनके स्वरूप में भारतीयता साकार है। वे कैलासपति हैं। उनकी जटाओं में परमतीर्थ गंगा विद्यमान है। उनका वाहन वृषभ भारत के राष्ट्रीय व्यवसाय कृषि से संबंधित है। उनके व्यक्तित्व में प्रकृति और संस्कृति का अनूठा संगम है। पर्वतराज हिमालय उनके श्वसुर हैं और पर्वतपुत्री पार्वती उनकी पत्नी हैं। उनके विग्रह या आकार में भारत का इतिहास, भूगोल, धर्म, दर्शनादि सब कुछ साकार हो उठा है। वे निर्गुण ब्रह्म भी हैं और सगुण गणाधिपति शिव भी हैं।

उनकी जटाएँ उनके संन्यासी एवं विरक्तरूप की प्रतीक हैं। वे रागी होकर भी वैरागी हैं। उनकी जटाओं में विष्णु-पद से निकली निर्मल गंगा-धारा है, जो मानसिक निर्मलता और पवित्रता की प्रतीक है। तीर्थ को शीश पर धारण करने के कारण उनका एक नाम 'तीर्थदेव' है।

'शिवपञ्चाक्षरस्तोत्र' के अनुसार सूर्य, चन्द्र और अग्नि के रूप में शिवजी के तीन नेत्र हैं— 'चन्द्रार्कवेश्वानरलोचनाय नमः शिवाय'। चन्द्रमा उनके

शिवत्व के अनुरूप सौम्यता, शान्ति और क्षमाशीलता का प्रतीक है, तो सूर्य उनके गणाधिपति-रूप के अनुरूप विवेकी न्यायाधीश की प्रखर दृष्टि का द्योतक है। इन दो के अतिरिक्त शिव का एक तीसरा नेत्र भी है, जो दोनों के ऊपर, मस्तक के मध्य में स्थित है और समय आने पर ही खुलता है। यह आग्नेय चक्षु ज्ञान-ज्योति का प्रतीक है और कभी-कभी रौद्र-रूप की अभिव्यक्ति के समय आग्नेयास्त्र का विस्फोटक और भस्मक रूप धारण कर लेता है। तपस्या भंग करने के अपराधी कामदेव को भस्म करने के लिए उन्होंने इसी अग्निवर्षक नेत्र का उपयोग किया था, किन्तु काम की पत्नी रति के करुण विलाप से द्रवित होकर उन्होंने तत्काल काम को अमरता का वरदान देते हुए कहा कि अब कामदेव विदेह-रूप में 'अनंग' होकर कामना या वासना के स्तर पर सभी प्राणियों के अंतःकरण में नित्य निवास करेंगे। इससे स्पष्ट है कि उनके रुद्र-रूप को शिव-रूप में ढलने में तनिक भी देर नहीं लगती। वे सचमुच आशुतोष हैं, सहज कृपालु हैं।

शिवजी का समूचा व्यक्तित्व ही प्रतीकात्मक होने के कारण महान् सन्देशवाहक है। उनके 'विषपायी' और नीलकण्ठ' नामों के पीछे समुद्र-मन्थन की कथा छिपी है। समुद्र-मन्थन के समय जब चौदह रत्नों के साथ विष भी निकला, तो उसके मारक प्रभाव के ध्यानमात्र से सभी सुर-असुर भयभीत हो उठे। तब मृत्युञ्जय शिव ने सहर्ष विषपान करके सभी को चिन्तामुक्त कर दिया। उन्होंने विष के विषम प्रभाव को कण्ठ में ही रोक लिया, हृदय तक नहीं जाने दिया। तभी तो वे 'नीलकण्ठ' हो गये। उनके कण्ठ में लिपटा सर्प भी काल का प्रतीक है। मृत्युञ्जय शिव को मरने का भय नहीं है। तभी तो उन्होंने मौत को भी गले लगा रखा है। यदि जीवन के प्रति असीम निष्ठा और अडिग विश्वास हो तो मौत का भय भी स्वयं ही दूर भाग जाता है। फिर शिव तो काल के भी काल, महाकाल हैं। उनकी पत्नी भी महाकाली हैं। कुल मिलाकर दोनों से भयमुक्त, शंकामुक्त, चुनौतीपूर्ण जीवन जीने का सन्देश मिलता है।

महादेव ने शरीर पर श्मशान की भस्म मल रखी है तथा गले में मुण्डमाला धारण की है। ये दोनों ही जीवन की नश्वरता के प्रतीक हैं। इनसे निर्लिप्त तथा निःस्वार्थ जीवन जीने का सन्देश मिलता है। वैसे भस्म की व्यावहारिक उपयोगिता भी है। भस्म की परत पर्वतीय शीत के प्रकोप से शरीर की रक्षा करती है। मुण्डमाला को गले में आभूषण के रूप में धारण करना नश्वरता के बोध को महिमामण्डित करना है। यदि प्रत्येक व्यक्ति यह सदैव याद रखे कि एक दिन मरना सुनिश्चित है, तो वह किसी दुष्कर्म में लिप्त नहीं हो सकता और अपने भीतर के शिवत्व का सतत

साक्षात्कार कर सकता है।

शिवजी के पास में त्रिशूल पर टँगा डमरू भी गहन प्रतीकार्थ समेटे हुए है। यह शिव की शंकर या शम्भु की शान्त मंगलमयी मनोदशा का सूचक है। इस अवस्था में 'डमरू' का डिम्-डिम् घोष आनन्दघोष बनकर दैहिक, दैविक, भौतिक तापों के प्रतीक त्रिशूल के उग्र प्रभाव का शमन कर देता है और उसे भक्त या ध्याता के लिए आनन्दप्रद बना देता है। जब शिव रुद्रावस्था में होते हैं, तब वे एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे में डमरू धारण करते हैं। 'डमरू' का मूल अर्थ है भीषण नाद। उस समय डमरू भैरव-नाद से शत्रु को आतंकित करता है और त्रिशूल विकराल रूप में प्रहार द्वारा उसकी जीवनलीला समाप्त कर देता है।

ब्रह्मा और विष्णु की भाँति शिव भी चतुर्भुज-रूप हैं। वे बायीं ओर के ऊपरी हाथ में त्रिशूल तथा निचले बायें हाथ में डमरू धारण करते हैं। दायीं ओर के निचले हाथ में खड्गांग नामक दण्ड है। ऊपर दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है, जो सदैव शुभकामनाओं की वर्षा करता है। बराबर में रखा हुआ कमण्डलु संन्यासी शिव की त्याग-भावना और भिक्षावृत्ति का प्रतीक है। अवदरदानी होकर भी वे भिक्षुक हैं। उनका सारा स्वरूप और जीवन अंतर्विरोधी तत्त्वों के अद्भुत समन्वय से निर्मित है।

शिव के वाहन की अवधारणा गूढ़ प्रतीकात्मक अर्थों से पूर्ण है। इसमें सारा पाशुपतदर्शन समाहित है। शिव का वाहन वृषभ (नन्दी) माया के पाश में बद्ध पशु का प्रतीक है, जो काम, क्रोध आदि विकारों की कारा में बन्दी है। किन्तु वही बन्धनग्रस्त पशु (वृषभ) पशुपति शिव की शरण में आकर अपने प्रकृतिगत विकारों अर्थात् पशुता से मुक्त होकर भक्तिपूर्वक उनका वाहन बनता है और उनके नियन्त्रण और निर्देशन में आत्मोद्धार और मुक्ति का मार्ग अपनाते हुए अपने आनन्दमय, आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त करके 'नन्दी' नाम को सार्थक करता है। इतना ही नहीं, स्वयं भगवान् शिव उसको पाकर 'नन्दीश' या 'नन्दीश्वर' कहलाने में गौरव अनुभव करते हैं। पाशबद्ध पशु पाशमुक्त होकर केवल स्वयं को तथा अन्य सबको आनन्दित करनेवाला 'नन्दी' ही नहीं बनता, वरन् अपने मर्यादित आचरण के कारण 'धर्म' का स्वरूप ग्रहण करता है। इस प्रकार वृषभ पाशमुक्त 'नन्दी' का ही नहीं, धर्म का भी प्रतीक है।

1. शिव के कुछ विशिष्ट रूप

अ. अर्द्धनारीश्वर— अर्द्धनारीश्वर की अवधारणा अद्भुत है। शिव के

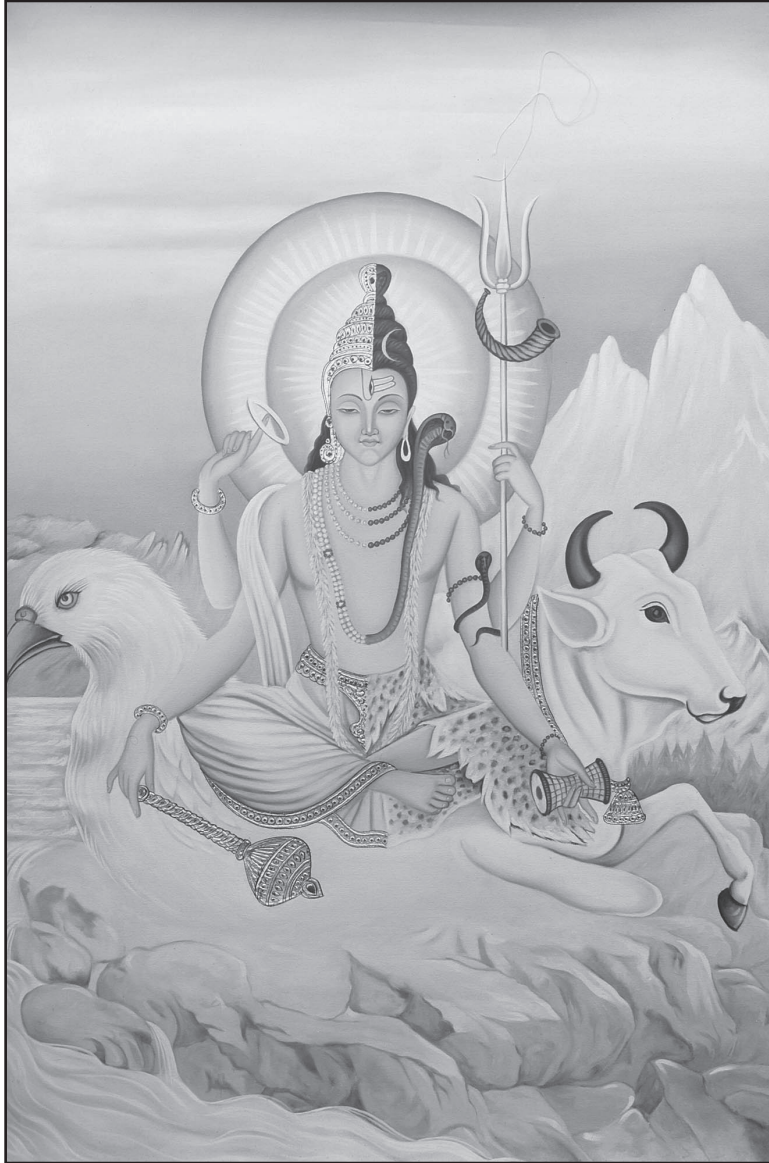


अर्द्धनारीश्वर (शिवशक्ति)

अर्द्धनारीश्वर रूप में आधा शरीर पुरुष अर्थात् शिव का है और आधा शरीर नारी अर्थात् उमा का। इस संयुक्त विग्रह में पुरुष और नारी (प्रकृति) इसी प्रकार एकाकार हैं, जिस प्रकार कविता में अर्थ और वाणी। महाकवि कालिदास ने अर्थ और वाणी की भाँति अभिन्न जगत्पिता शिव और जगन्माता पार्वती के इसी एकाकार स्वरूप की वन्दना करते हुए *रघुवंश* महाकाव्य में लिखा है— ‘जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ’। इसी प्रकार महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने पार्वती (भवानी) को श्रद्धा और शिव को विश्वास के रूप में मानकर दोनों की संयुक्त मुद्रा की स्तुति करते हुए लिखा है— ‘भवानीशंकरो वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ’ (*श्रीरामचरितमानस*, बालकाण्ड, वन्दना, 2)। दाम्पत्य जीवन के इससे भी आगे के स्वरूप की अवधारणा है ‘सोमस्कन्द’ (स+उमा+स्कन्द) अर्थात् पत्नी उमा और पुत्र स्कन्द (कार्तिकेय) के साथ संयुक्त शिव की अवधारणा। इसमें पति, पत्नी और पुत्र एकाकार हैं। इसमें सृष्टि की प्रगति-प्रक्रिया के रूप में दाम्पत्य जीवन के आदर्श-रूप को साकार किया गया है।

आ. हरिहर-रूप— ‘हरिहर’ के रूप में विष्णु और शिव के परस्पर संयुक्त स्वरूप की संकल्पना भारतीय इतिहास के ‘स्वर्ण-युग’ गुप्त-काल की विशेष उपलब्धि है। गुप्तवंशीय उदारहृदय सम्राटों ने वैष्णव और शैव मतों के मध्य चले आ रहे पुराने मतभेदों को मिटाकर दोनों में परस्पर एकता विकसित करने के उद्देश्य से विष्णु और शिव के संयुक्त स्वरूप की ‘हरिहर’ के रूप में एकाकार प्रतिमा की उद्भावना की। प्रतिमा के दायें भाग में जटाधारी शिव और बायें भाग में किरीटधारी विष्णु विराजमान हैं। शिव दायीं ओर के हाथों में त्रिशूल और परशु धारण किये हैं, तो विष्णु अपने बायीं ओर के दोनों हाथों में शंख और चक्र लिये हुए हैं। तुलसीकृत *श्रीरामचरितमानस* में राम लंका पर आक्रमण करने से पूर्व शिव की पूजा करते हैं और ‘रामेश्वरम्’ नामक शिव के प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग की स्थापना करते हैं। ‘रामेश्वरम्’ राम (विष्णु) और ईश्वर (शिव) की एकाकारता का प्रतीक है। पूरे *श्रीरामचरितमानस* में स्थान-स्थान पर शिव राम (विष्णु) की तथा राम शिव की भक्ति करते पाये जाते हैं।

इ. सदाशिव-रूप— ‘सदाशिव’ को सृष्टि के आदि-स्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। *शिवपुराण* के अनुसार ब्रह्मा या विष्णु सृष्टि के रचयिता नहीं थे, वरन् स्वयं शिव ही जगत् के आदि स्रष्टा थे। वे सदाशिव के रूप में स्वयं ही



हरिहर

सृष्टि के निर्माता, संरक्षक-पोषक और संहारक थे। उन्होंने ही सदाशिव के रूप में ब्रह्मा को सृष्टि-रचना का दायित्व सौंपा तथा विष्णु को सृष्टि का पालन-पोषण और संरक्षण का कार्य सुपुर्द किया। उन्होंने रुद्र-रूप में सृष्टि के संहार का दायित्व स्वयं ही ग्रहण किया। वास्तव में, सदाशिव रूप में शिव एक अनन्त, सर्वोपरि, सार्वभौम सत्ता हैं। एकमात्र वे ही सर्वसत्ताधीश हैं। ब्रह्मा और विष्णु को दायित्व सौंपना उनकी उदारहृदयता और सदाशिवमयता का द्योतक है।

यहाँ अत्यन्त संक्षेप में शिवोपासना के प्रमुख रूपों पर प्रकाश डालना उपयुक्त होगा। वैदिक काल की रुद्रोपासना ने ही ज्ञान और भक्ति के समन्वय से शिवोपासना के विविध रूप ग्रहण किये। शिव-भक्ति के प्रमुख मत यहाँ प्रस्तुत हैं।

2. शिवोपासना के प्रमुख मत-पन्थ

क. पाशुपत मत— *वामनपुराण* के पाँचवें अध्याय में पाशुपत पत का निरूपण हुआ है। इस मत के केन्द्र में स्थित हैं सर्वेश्वर भगवान् पशुपति अर्थात् शिव। इस दर्शन में मूलतः तीन तत्त्व हैं— 1. पशु (विकारों के पाश में बँधा हुआ पशुवत् मनुष्य), 2. पाश (अज्ञान से उत्पन्न माया का बन्धन) और 3. पशुपति शिव। जीवात्मा (मनुष्य) मूलतः शिवस्वरूप है, किन्तु अज्ञान के कारण माया-जाल में फँसकर वह पशुवत् जीवन जीता है। पशुपति की भक्ति से ज्ञान की आँखें खुलते ही वह पुनः पशु से पशुपति होकर इस जीवन में ही मुक्त हो जाता है।

ख. काश्मीरी शैवमत : प्रत्याभिज्ञा दर्शन— काश्मीरी शैव मत का मूलाधार है प्रत्याभिज्ञा दर्शन। प्रत्याभिज्ञा का अर्थ है पुनः पहचानना। जीवात्मा अपने मूल रूप में शिवस्वरूप है, किन्तु सांसारिक माया-मोह में फँसकर वह अपने मूल शिवस्वरूप को भूल जाता है और विकारों का शिकार होकर अनेक कष्ट सहता है। उसकी ज्ञान, इच्छा और क्रिया नामक तीनों शक्तियों में समन्वय नहीं रहता। उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है। महाकवि जयशंकर प्रसाद (1889-1937) ने मानव-जीवन की इसी विडम्बना को इस प्रकार चित्रित किया है—

‘ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की ॥’

—कामायनी, रहस्य सर्ग 2

आत्मस्वरूप से भटका हुआ जीव जब शिवकृपा से पुनः ज्ञान की आँखें खुलने पर अपने खोये हुए स्वरूप को पहचानता है और दुबारा अपने मूल शिवस्वरूप का साक्षात्कार करता है, तो पुनः उसका जीवन सन्तुलित और समरसतापूर्ण हो जाता है। वह मुक्तात्मा हो जाता है।

ग. लिंगोपासना और लिंगायत मत— *लिंगपुराण* में लिंग-पूजा का विधान है। लिंगोपासकों और उनके मत को 'लिंगायत' कहा जाता है। इस मत के तीन आधार हैं— गुरु, जंगम (ज्ञानी शिवभक्त) और लिंग (विश्वकर्ता शिव)। लिंगायत मत में जंगम को शिव का अवतार माना जाता है, क्योंकि शिव की भक्ति में लीन होकर वह स्वयं शिवस्वरूप हो जाता है। लिंगायत '**नमः शिवाय**' पञ्चाक्षर मन्त्र का जप करते हैं। ये शिवलिंग को कण्ठ में धारण करते हैं। साथ ही ये रुद्राक्ष-माला भी धारण करते हैं। मन्दिरों में योनि पर स्थित शिवलिंग जगत्पिता शिव और जगन्माता पार्वती के सृजन-लीला में संलग्न स्वरूप का प्रतीक है। मंगल-घट से बूँद-बूँद टपकता जल वासना के शमन और सृजन-शक्ति के संरक्षण का द्योतक है। यह मत दक्षिण भारत में विशेष प्रचलित रहा। यों तो देश-विदेश में असंख्य शिवलिंग हैं, किन्तु द्वादश ज्योतिर्लिंग परम प्रसिद्ध हैं— 1. श्रीसोमनाथ (सौराष्ट्र, गुजरात), 2. श्रीमल्लिकार्जुन (श्रीशैलम्, आन्ध्रप्रदेश), 3. श्रीमहाकालेश्वर (उज्जैन, मध्यप्रदेश), 4. श्रीओंकारेश्वर (ओंकारेश्वर, मध्यप्रदेश), 5. श्रीकेदारनाथ (केदारनाथ, उत्तराखण्ड), 6. श्रीभीमशंकर (भीमशंकर, महाराष्ट्र), 7. श्रीविश्वनाथ (काशी, उत्तरप्रदेश), 8. श्रीत्र्यम्बकेश्वर (नासिक, महाराष्ट्र), 9. श्रीवैद्यनाथ (देवघर, झारखण्ड), 10. नागेश्वर (द्वारका, गुजरात), 11. श्रीरामनाथस्वामी (रामेश्वरम्, तमिलनाडु) एवं 12. घृणेश्वर (औरंगाबाद, महाराष्ट्र)।

घ. नाथ-पन्थ— नाथ-पन्थ निर्गुणोपासना पर आधारित है। चौरासी बौद्ध सिद्धों की मांस, मछली, मुद्रा (नारी), मदिरा और मैथुन नामक पंचमकार के सेवन पर आधारित वाममार्गी, भ्रष्ट साधना-पद्धति के प्रति विद्रोह के रूप में निर्गुणोपासक नाथ-पन्थ का नवम शती में उदय हुआ। निराकार शिव ही आदिनाथ के रूप में प्रकट हुए। मत्स्येन्द्रनाथ के मेधावी शिष्य गोरखनाथ ने इस सुधार-आन्दोलन का व्यापक स्तर पर प्रसार किया। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी (1907-1979) के अनुसार गोरखनाथ नवम शती के उत्तरार्द्ध में हुए। दक्षिण भारत के कालपी नगर में उत्पन्न जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य (788-820) का नाथ-पन्थ पर

गहरा प्रभाव पड़ा। नव नाथ नाथ-पन्थ में विशेष प्रसिद्ध हुए। गुरु नानक देव और उनके सिख पन्थ के साथ ही कबीर, रैदास, दादू आदि सन्तों पर नाथ-पन्थ का विशेष प्रभाव पड़ा। अन्त में, कर्पूर के समान गौर वर्णवाले, करुणावतार, संसार के सारस्वरूप, सर्प की माला धारण करनेवाले, अंतःकरणरूपी कमल में सदा निवास करनेवाले, भवानीसहित शिव को नमस्कार—

‘कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम् ।

सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानीसहितं नमामि ॥

प्रस्तुत अध्याय में वर्णित पौराणिक त्रिदेवों के स्वरूप के अध्ययन से यही निष्कर्ष उभरकर आता है कि ये तीनों तत्त्वतः एक ही असीम सत्ता के विविध रूपाकार हैं। ये बाहर से भिन्न, किन्तु भीतर से अभिन्न हैं। इनमें तात्त्विक एकता है, व्यावहारिक भिन्नता है। मूलतः ये सभी ब्रह्मस्वरूप हैं। इनमें न कोई सबसे बड़ा है और न ही छोटा। व्यवहारतः ब्रह्माजी सृष्टि-सृजन के, विष्णु सृष्टि-पालन के तथा शिव सृष्टि-संहार के देवता हैं, किन्तु मूलतः ये सभी, इन सब कार्यों में परस्पर प्रेरक, सहयोगी और सहकर्मी हैं। इन सभी की लीला अपरम्पार है। ये सभी समान रूप से पूज्य और वन्दनीय हैं।



सातवाँ अध्याय पौराणिक त्रिदेवियाँ

1. सरस्वती

वै

दिक साहित्य में सरस्वती नदी का भी उल्लेख मिलता है, साथ ही वाणी की देवी 'वाग्देवी' का भी। ऋग्वेद (10.75) में सिंधु, गंगा, यमुना, वितस्ता आदि के साथ सरस्वती नदी की भी स्तुति की गयी है। ऋग्वेद (10.125) में वाग्देवी (सरस्वती) की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता को रेखांकित किया गया है। यहाँ वाग्देवी स्वयं कहती हैं, "मैं जिस पुरुष की रक्षा करना चाहती हूँ, उसे सृष्टिकार ब्रह्मा बना देती हूँ, उसे अर्थतत्त्व-द्रष्टा और प्रज्ञावान् कर देती हूँ।" इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद में सरस्वती नदी और वाग्देवी का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है। ऋग्वेद में इडा तथा भारती के साथ वाग्देवी का उल्लेख तीन प्रमुख यज्ञदेवियों में भी मिलता है। आगे चलकर ये तीनों देवियाँ एकाकार हो गयीं तथा फिर एक ही वाणी को उक्त तीनों नामों से पुकारा जाने लगा। बाद में ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा पुराणों में वाग्देवी को ही सरस्वती कहा जाने लगा। इसका कारण है दोनों के मूल स्वरूप में पायी जानेवाली समानता। सरस्वती के समान वाणी भी सरस और प्रवाहमयी तो है ही, साथ ही शक्ति और तृप्ति देनेवाली भी है। वाणी सृजन-शक्ति के संचार से किसी को भी सृजनकार विधाता बना सकती है। इसीलिए वह ब्रह्मा की सृजन-शक्ति और आत्मजा कही गयी है। संस्कृतशब्दार्थकोस्तुभ के अनुसार सरस्वत् का स्त्रीलिंग है सरस्वती तथा सरस्वत् का अर्थ है सजल, सरस। अतः असजल सरिता सरस साहित्य-सरिता में समा गयी। वैसे भी सरस्वती नदी पृथिवी में समाकर लुप्त हो गयी।



देवी सरस्वती

स्पष्ट है कि वाक् के वैदिक रूप से ही सरस्वती के पौराणिक स्वरूप का विकास हुआ है। ब्रह्मा के मुख से वाग्देवी सरस्वती के उत्पन्न होने की उद्भावना निश्चय ही पौराणिक है। ब्रह्मा के मुख से ही वेद प्रकट हुए। इस प्रकार जो विद्या या ज्ञान का स्रोत है, वही वाणी या सरस्वती का भी स्रोत माना गया है, जो सर्वथा युक्तिसंगत है। जिस प्रकार कोई भी रचना रचनाकार की मेधा की उपज होने के कारण उसकी आत्मजा है, उसी प्रकार सरस्वती या वाग्देवी भी ब्रह्मा की मानस-पुत्री अथवा आत्मजा हैं। जिस प्रकार रचना रचनाकार को महिमामण्डित करती है, उसी प्रकार सरस्वती ने भी ब्रह्मा को अपार महिमा से मण्डित करके अपने आत्मजा-धर्म का पालन किया है। सरस्वती ब्रह्मा की कीर्ति का ही आधार नहीं, वरन् उनकी सृजनात्मक शक्ति भी है।

स्पष्ट है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की सृजन-क्षमता या अभिव्यक्ति-शक्ति का नाम सरस्वती है। व्यक्त होने की विरल क्षमता के कारण ही मानव 'व्यक्ति' कहलाता है। सृजन-क्षमता से युक्त होने के कारण ही सरस्वती-साधक कवि 'प्रजापति' कहलाता है— 'अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः' (अग्निपुराण, 339. 10)। कुम्भकार भी मिट्टी के सुन्दर बरतन बनाने की क्षमता के कारण प्रजापति या प्रजापत कहलाता है।

सरस्वती का स्वरूप मनोरम, प्रेरक और उद्बोधक है। निम्नलिखित श्लोक में सरस्वती देवी के रमणीय रूप को अंकित किया गया है—

‘या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता ।
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ॥
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता ।
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥’

—सरस्वत्यष्टकम्, 1

उक्त श्लोक में सरस्वती की स्तुति करते हुए कवि कहता है कि 'वह भगवती सरस्वती मुझ पर कृपा करें, जो कुन्द के कुसुम, चन्द्रमा और ओस-बिन्दुओं के समान धवल हार धारण करती हैं, जो श्वेत वस्त्रों से सुसज्जित हैं, जो हाथों में वीणा के सुन्दर दण्ड को ग्रहण किये हुए हैं; जिसकी वन्दना ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवगण के द्वारा सदा की जाती है तथा जो सम्पूर्ण जड़ता (अज्ञानता) को दूर भगानेवाली हैं।'।

यहाँ सरस्वती देवी के बहुआयामी स्वरूप में निहित प्रतीकात्मक अर्थ-वैभव पर विचार करना उचित होगा। सरस्वती का स्वरूप उनकी सम्मोहनकारी सृजन-शक्ति को साकार करता है। वे शुक्ल या उज्ज्वल वर्णवाली हैं तथा श्वेत परिधान धारण किये हैं। ज्ञान-ज्योति से विभासित अंतःकरण के कारण वे भीतर से भी शुभ्र और समुज्ज्वल हैं। तन, मन, परिधान की यह समग्र शुभ्रता उनकी स्वरूपगत सात्त्विकता और ज्योतिर्मयता की प्रतीक है। उनके कण्ठ का धवल हार भी उनकी सर्वांगीण धवलता में अभिवृद्धि करता है। उनके व्यक्तित्व की यह पवित्रता और उज्ज्वलता उनके उपासकों और साधकों के प्राणों में नीति, भक्ति, सदाचार, सततश्रम, निष्ठा आदि भव्य भावों का संचार करती है। इससे प्रेरित होकर वे सत्साहित्य की सृष्टि करते हैं। मानव-मन को अज्ञान के अन्धकार से मुक्त करके ज्ञान के शुभ्र आलोक से उद्भासित करना ही सरस्वती के ज्योतिर्मय स्वरूप का सन्देश है।

सरस्वती के स्वरूप से संबंधित उनके अन्य अंग और उपकरण भी प्रेरक प्रतीकात्मक अर्थ की आभा से मण्डित हैं। उनके चतुर्भुज स्वरूप से उनके चहुँमुखी दृष्टि-विस्तार और ज्ञान-प्रसार का बोध होता है। उन्होंने अपने दो हाथों में वीणा ग्रहण कर रखी है, जिसके कारण वे 'वीणावादिनी' और 'वीणापाणि' नामों से भी विभूषित की जाती हैं। वस्तुतः वीणा संगीत की प्रतीक है, जिसमें गायन, वादन और नृत्य भी समाहित हैं। संगीत का ललितकलाओं में विशिष्ट स्थान है। इन ललित लोककलाओं के माध्यम से वीणापाणि का समूची लोक-संस्कृति और लोकमानस पर अखण्ड आधिपत्य स्थापित हो जाता है। सरस्वती देवी के तीसरे हाथ में पुस्तक है, जो विद्या या ज्ञान की प्रतीक है। पुस्तक से ज्ञान और ज्ञान-साधना के कई आयाम जुड़े हैं। सर्वप्रथम तो पुस्तक-लेखन का आयाम है। ऐसे रससिद्ध, अमर यश के भागी रचनाकारों के विषय में कहा गया है कि वे श्रेष्ठ रचनाओं के द्वारा पाठकों के हृदय पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं—

‘जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥’

—भर्तृहरिनीतिशतक, 24

दूसरा आयाम पाठकों से संबंधित है। पाठक ही पुस्तकों का स्वाध्याय करके लेखक की साधना को सफल बनाते हैं। सजग पाठक स्वाध्याय में प्रमाद नहीं

करते। *तैत्तिरीयोपनिषद्* (शिक्षावल्ली, अनुवाक् 11, मंत्र 1) में कहा गया है कि स्वाध्याय में चूक मत होने दो— ‘**स्वाध्यायान्मा प्रमदः**’। तीसरा आयाम सामाजिक जागरण का है। उत्तम साहित्य के सृजन और अध्ययन से ही समाज में नयी चेतना के संचार द्वारा सामाजिक रूपान्तरण किया जा सकता है। पुस्तक और वीणा— ये दोनों उपकरण सरस्वती का सीधा सम्बन्ध साहित्य, संगीत तथा अन्य लोककलाओं से जोड़ते हैं, जिनके अभाव में व्यक्ति का मानसिक परिष्कार नहीं हो पाता और वह बिना सींग और पूँछवाले पशु के स्तर पर ही रहता है—

‘साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः’

— *भर्तृहरिनीतिशतक*, 12

वाग्देवी के चौथे हाथ में ‘स्फटिक मणि की माला’ है, जो ध्यान, जप, स्मरण आदि बुद्धि को प्रखरता प्रदान करनेवाली साधनाओं से सम्बन्धित है। बौद्धिक प्रखरता से ही उत्तम साहित्य का सृजन सम्भव है और पाठन, मनन-चिन्तन भी।

सरस्वती का आसन कमल है, जो निर्मलता, सुन्दरता, उत्फुल्लता और तटस्थता का प्रतीक है। मानसिक स्वच्छता और उल्लास से ही साहित्य में रस और आनन्द का उदय होता है। कमल कीचड़ में जन्म लेकर भी उससे सदैव ऊपर रहता है। वह विकृति से संस्कृति की ओर उत्थान का प्रतीक है। सरस्वती का वाहन हंस है। हंस नीर-क्षीर विवेक का प्रतीक है। सरस्वती-साधक के लिए भले-बुरे का, सत्-असत् का यह विवेक नितान्त वाञ्छनीय है। सरस्वती का सच्चा साधक सिद्धि की पराकाष्ठा पर पहुँचकर ‘परमहंस’ कहलाता है।

सरस्वती की महिमा इस तथ्य से स्वयंसिद्ध है कि प्रायः सभी शिक्षण संस्थाओं और सामाजिक-सांस्कृतिक आयोजनों के समारम्भ में सर्वप्रथम माल्यार्पण के साथ ही सरस्वती की प्रतिमा पर पुष्प भी चढ़ाये जाते हैं तथा दीप-प्रज्वलन की परम्परा प्रचलित है। साथ ही सरस्वती-वन्दना का गायन भी किया जाता है। अनेक कवि अपने काव्य-संग्रहों के प्रारम्भ में सरस्वती-वन्दना को स्थान देकर माँ सरस्वती के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा समर्पित करते हैं।

सरस्वती-पूजन का सर्वाधिक महत्पूर्ण उत्सव है वसन्त पञ्चमी, जो माघ शुक्ल पञ्चमी को ऋतुराज वसन्त के स्वागत में मनाया जाता है। वसन्त ऋतु में प्राकृतिक सौन्दर्य अपने चरमोत्कर्ष पर होता है। प्रकृति का यह उद्देलित सौन्दर्य

मानव-प्रकृति को भी सौन्दर्य, प्रेम, उल्लास, आसक्ति की तरंगों से आन्दोलित कर देता है। सौन्दर्य के प्रति यह अनुराग काम-भावना के व्यापक संचार का रूप ले लेता है। इसीलिए वसन्तोत्सव को कामोत्सव या मदनोत्सव भी कहा जाता है। कामदेव का एक नाम ‘वसन्त-बन्धु’ भी है। इस अवसर पर कामदेव की भी पूजा की जाती है। वासना के उभार को उत्सवधर्मी, सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान करने के लिए नृत्य, गायन, वादन आदि कलाओं का आश्रय लिया जाता है तथा वासना को उपासना का उन्नत रूप प्रदान करने के पुनीत उद्देश्य से सरस्वती-पूजन को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इस प्रकार वसन्तोत्सव या मदनोत्सव शारदोत्सव का रूप लेकर भव्य से दिव्य हो जाता है। यह दिव्यता भव्यता को अनूठी गरिमा से मण्डित कर देती है।

भारतीय संस्कृति की यह मौलिक विशेषता है कि सारी उद्भावित अलौकिकता लौटकर लौकिकता के समुत्थान के प्रति समर्पित हो जाती है। सारी देव-सृष्टि मनुज-सृष्टि के मंगल-विधान में अपनी सच्ची सार्थकता सिद्ध करती है। इस प्रकार मानव का कल्याण और महिमामण्डन ही समूची भारतीय धर्म-साधना, साहित्य, संस्कृति, दर्शन का मूलोद्देश्य है। भावनाओं का ऐसा नैसर्गिक, नाटकीय, सांस्कृतिक विन्यास अन्यत्र दुर्लभ है। तिस पर भी वसन्तोत्सव, मदनोत्सव, शारदोत्सव के इस सुखद संगम की उपेक्षा करके ‘वैलेन्टाइन डे’ मनाकर असली तृप्ति का अभिनय करनेवाली युवा पीढ़ी अपनी मानसिक दासता का परिचय देने में क्यों नहीं संकोच करती ?

ब्रह्माजी की भाँति ही सरस्वती के मन्दिर भी कम ही पाये जाते हैं। किन्तु सरस्वती के नाम पर अनेक विद्यालयों और महाविद्यालयों के नामों की कोई कमी नहीं है। विद्या की देवी के नाते वे सभी विद्यार्थियों, विद्वानों और विद्याप्रेमियों के मन-मन्दिरों में विराजमान हैं। हाँ, प्रख्यात विद्याविद् आद्य शंकराचार्य ने शृंगेर पर्वत पर स्थित शृंगेरी मठ की ‘शारदापीठ’ के रूप में अवश्य स्थापना की, जिसकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती हैं। इस ऐतिहासिक ‘शारदापीठ’ की मान्यता का प्रमाण यह है कि मुस्लिम शासक हैदर अली (1761-1782) और टीपू सुल्तान (1750-1799) भी इस पीठ के उपासक थे। श्री राणाप्रसाद शर्मा द्वारा सम्पादित *पौराणिक कोश* में उक्त जानकारी दी गयी है।

ब्रह्मा ने सृष्टि का सृजन अवश्य किया है, किन्तु विद्या, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन आदि के माध्यम से उसमें इन्द्रधनुषी संस्कृति के विविध रंगों की शोभा और रसों के उल्लास की संजीवनी शक्ति के संचार का कार्य तो उनकी पुत्री सरस्वती

का ही चमत्कार है। संस्कृति के सम्प्रसार से ही सृष्टि का जीवन उत्सवधर्मी, सरस, कलात्मक और ऊर्ध्वमुखी है। सरस्वती-साधना की उपेक्षा जड़ता, पतन, विनाश आदि की जननी है।

अन्त में, सरस्वती देवी को नमस्कार है—

‘सरस्वती महाभागे विद्ये कमललोचने !
विश्वरूपे विशालाक्षि ! विद्यां देहि, नमोऽस्तु ते ॥’

2. लक्ष्मी

लक्ष्मी देवी के रमणीय स्वरूप में मानव-जीवन से सम्बन्धित व्यावहारिक उपयोग के अनेक महत्त्वपूर्ण सन्देश निहित हैं, जो आज के उलझनभरे, भौतिकतावादी युग में फँसे हुए मानव के लिए दिशादर्शक हैं। लक्ष्मी का अर्थ जैसे-तैसे घपलों-घोटालों से हथियायी गयी माया नहीं है। यहाँ लक्ष्मी का अर्थ देवी के अनुरूप दिव्यता से भास्वर है। ‘संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ’ नामक शब्दकोश के अनुसार लक्ष्मी वह है, जो अपने उपार्जन के लिए उद्योगी या परिश्रमी व्यक्ति को खोजती है— ‘लक्षयति पश्यति उद्योगिनम्’। स्पष्ट है कि ईमानदारी से परिश्रम करनेवाले कर्मनिष्ठ व्यक्ति की खून-पसीने की कमाई ही लक्ष्मी है। यह सच्चाई से, श्रमपूर्वक अर्जित सात्त्विक सम्पत्ति ही ‘देवी’ कहलाती है। इसीलिए लक्ष्मी देवी को धन की अधिष्ठात्री देवी के रूप में जाना जाता है। इसी का नाम ‘सौभाग्य’ है, ‘सम्पदा’ है, ‘भूदेवी’ है, ‘पद्मा’ है, ‘कमलासना’ है, ‘श्री’ है, ‘रमा’ है, ‘शोभा’ आदि है।

उद्योग या सात्त्विक श्रम ही लक्ष्मी की पुण्य जन्मस्थली है। समुद्र-मन्थन की पौराणिक कथा में भी लक्ष्मी का जन्म उद्योग या श्रम से ही बताया गया है। ‘समुद्र-मन्थन’ घोर परिश्रम का प्रतीक है। न अकेले देवता ही समुद्र का मन्थन कर सकते थे, न असुर ही। देवताओं और असुरों ने मिलकर जब दिन-रात कठोर परिश्रम किया, तब जाकर चौदह रत्न प्राप्त हुए, जिनमें लक्ष्मी भी सम्मिलित थी। भारी परिश्रमी और प्रतिभावान् पाकर लक्ष्मी ने विष्णु को वरण किया। परम सौभाग्यशाली विष्णु लक्ष्मी को पाकर ‘लक्ष्मीश’, ‘लक्ष्मीपति’, ‘लक्ष्मीकान्त’ आदि नामों से पुकारे जाने लगे।

निम्नलिखित श्लोक में उद्योगजनित लक्ष्मी के इसी सात्त्विक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है—



देवी लक्ष्मी

‘उद्योगिनं सततमत्र समेति लक्ष्मीर्देवं हि दैवमिति कापुरुषाः वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥’

—पञ्चतंत्र, कथा 4, 217

अर्थात्, ‘लक्ष्मी उद्योगी तथा सिंह के समान पराक्रमी व्यक्ति के पास जाती है। निकम्मे-निठल्ले लोग कहते रहते हैं कि वह तो भाग्य के द्वारा प्रदान की जाती है। अतः भाग्य को छोड़कर अपनी शक्ति के अनुरूप पुरुषार्थ करो। यदि प्रयत्न करने पर भी सफलता न मिले, तो इसमें आपका क्या दोष?’

चाणक्यनीति (3.11) में इसी आशय को भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि उद्योग करने पर दरिद्रता नहीं रहती— ‘उद्योगे नास्ति दारिद्र्यम्’।

पुण्य की कमाई के साथ यहाँ पाप की माया के स्वरूप पर विचार करना भी सर्वथा युक्तिसंगत होगा। अथर्ववेद (7.120.4) में कहा गया है कि ‘पुण्य की कमाई मेरे घर की शोभा बढ़ाये, पाप की कमाई को मैंने नष्ट कर दिया— ‘रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्’। निश्चित है कि अपराधबोध की गहरी पीड़ा से मर्माहत और कुण्ठित होकर ही मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषि ने भ्रष्ट तरीकों से अर्जित काली कमाई को ठिकाने लगाने का कठोर निर्णय किया होगा। अन्यथा कौन किसी भी प्रकार से घर आयी दौलत को यों ही लुटाने या बर्बाद करने की बात सोचेगा ! वास्तव में, अपने अपराध को मानना और उस पर प्रायश्चित्त करना ही आत्मसुधार और आत्मोद्धार का सनातन मार्ग है। विकृति से विमुख होकर ही हमारी प्रकृति संस्कृति की मंगलकारी दिशा में उन्मुख हो सकती है। पाप और पाप की माया से मुक्ति पाने में ही प्रत्येक मानव और समाज का सच्चा हित निहित है। जो सच्चे धर्मनिष्ठ हैं, उनके मन लाख प्रलोभन दिये जाने पर भी, रिश्वत आदि के रूप में दी जानेवाली पाप की माया के प्रति अविचल रहते हैं। महाकवि कालिदास ने कहा है कि मन विकृत होने का मूल कारण (रिश्वत आदि) सामने उपस्थित होने पर भी जिनके मन विकृत नहीं होते, वे ही सच्चे धीर-वीर हैं—

‘विकारहेतौ सति विक्रयन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः’

—कुमारसम्भवम्, 1.59

लक्ष्मी भूदेवी के रूप में भौतिक समृद्धि को तो कहते ही हैं, किन्तु अनेक बार उसे शील, शोभा, सेवा, शिष्टाचार आदि सद्गुणों से सम्पन्न नारी के रूप में भी देखा गया है। अपने घर, परिवार, अतिथियों की देखभाल करने में गहरी रुचि

रखनेवाली सुशीला, सद्गृहिणी को भी प्रायः ‘गृहलक्ष्मी’ कहकर सम्मानित किया जाता है। महर्षि गर्ग कहते हैं—

‘यद्गृहे रमते नारी लक्ष्मीस्तद्गृहवासिनी ।

देवताः कोटिशो वत्स ! न त्यजन्ति गृहं हि तत् ॥’

अर्थात् ‘जिस घर में नारी आनन्दपूर्वक निवास करती है, उस घर में लक्ष्मी का वास है। हे वत्स ! करोड़ों देवता भी उस घर को नहीं तजते।’

नारी के समान कन्या को भी लक्ष्मी माना जाता है। कन्या के जन्म लेने पर कहा जाता है कि लक्ष्मी का आगमन हुआ है। कई पर्वों, अनुष्ठानों के अवसर पर कन्याओं की पूजा की जाती है और उन्हें भोजन कराया जाता है। भारतीय संस्कृति में नारी के प्रति पूजा-भाव को बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है। मनु महाराज ने मनुस्मृति (3.56) में लिखा है कि जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं—

‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।’

लक्ष्मी के वैदिक और पौराणिक स्वरूपों में अन्तर है, यद्यपि दोनों में एक आन्तरिक वैचारिक संगति अवश्य है। वैदिक साहित्य में ‘लक्ष्मी’ और ‘श्री’ शब्दों का प्रयोग धन, वैभव, सम्पत्ति आदि के अर्थ में हुआ है, किन्तु वहाँ उसे ‘देवी’ के रूप में नहीं प्रस्तुत किया गया है। धन की देवी के साथ ही विष्णु भगवान् की पत्नी के रूप में लक्ष्मी की बहुआयामी अवधारणा का विकास पौराणिक काल की अनूठी और मनोहारी देन है। विष्णु और लक्ष्मी की जोड़ी के रूप में पति-पत्नी और उनके सब प्रकार के सफल दाम्पत्य जीवन का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। यह अनुपम जोड़ी शिव-पार्वती की अनुपम जोड़ी के समानान्तर प्रस्तुत की गयी है। दोनों की भव्यता और दिव्यता अद्भुत और अतुलनीय है। दोनों का दाम्पत्य अखण्ड, युग-युगान्तरव्यापी और शाश्वत है।

लक्ष्मी देवी का स्वरूप बहुआयामी है और प्रत्येक आयाम के गम्भीर प्रतीकार्थ हैं। श्रीसूक्त के निम्नलिखित श्लोक में लक्ष्मी देवी के स्वरूप की एक मञ्जुल, मोहक झाँकी प्रस्तुत की गयी है—

‘सरसिजनिलये सरोजहस्ते धवलतरांशुक गन्धमाल्यशोभे ।

भगवति हरिवल्लभे मनोज्ञे त्रिभुवनभूतिकरि प्रसीद मह्यम् ॥’

अर्थात्, 'हे कमलवासिनी, हाथ में कमल धारण करनेवाली, धवल रेशमी परिधान धारण करनेवाली, सुगन्धित माला से शोभित, भगवती, विष्णुप्रिया, मनोरम, त्रिभुवन को वैभव से सम्पन्न करनेवाली, तुम मुझ पर प्रसन्न होओ ।'

यहाँ लक्ष्मी के स्वरूप के विविध पक्षों में निहित प्रतीकात्मक आशयों पर विचार करना उपयुक्त होगा। लक्ष्मी का समूचा व्यक्तित्व कमलमय है। कमल अपनी सारी धवलता, मृदुलता, पवित्रता, निस्पृहता, सुन्दरता के साथ उनके तन, मन और जीवन में बसा है। वे सचमुच कोमलांगी 'कमला' या 'पद्मा' हैं। यही नहीं, उनका आसन भी कमल ही है। अतः वे 'कमलासना' हैं। दुग्ध-धवल क्षीरसागर में विकसित कमल से जन्म लेने के कारण वे 'पद्मालया' हैं। कमल जल के तल में जन्म लेता है, किन्तु रहता है सदैव जल के ऊपर ही। वह नित्य निर्विकार, निर्मल और निर्लिप्त बने रहने का सन्देश देता है। वह सूर्य के प्रकाश से विकसित होने के कारण अंतःकरण को आलोकित रखने और शुद्ध चैतन्यस्वरूप बने रहने की प्रेरणा देता है। अपने चारों हाथों में से दो हाथों में वे कमल धारण करके जगत् को निर्मलता और निष्कामता का सन्देश देती हैं। उनके एक हाथ में मंगल-कलश है, जो सम्पन्नता और कल्याण को लक्षित करता है। उनका चौथा हाथ अभय-दान मुद्रा में है। यह दरिद्रों को मुक्तहस्त से दान देने और उन पर करुणा और कृपा करने की प्रेरणा प्रदान करता है। सुख-समृद्धि के प्रसार के साथ, दरिद्रता का परिहार भी दयामयी देवी को दरकार है।

लक्ष्मी के वाहन भी विशेष प्रतीकात्मक अर्थों से युक्त हैं। लक्ष्मी का मुख्य और स्थायी वाहन गरुड़ है, जो सुमति से नियन्त्रित गति, शक्ति और प्रगति का प्रतीक है। धन की देवी के रूप में लक्ष्मी एक कुशल गृहिणी हैं, और अपने पति की कोषाध्यक्षा हैं। वे नीतिसम्मत आय और व्यय में तथा बचत-योजना में लोकपालक विष्णु को पूरा सहयोग देती हैं। बचत-राशि (शेष) की देखभाल पति-पत्नी मिलकर करते हैं। इसी को प्रतीकात्मक ढंग से कहा जाता है कि लक्ष्मी और विष्णु 'शेषशय्या' पर विराजमान हैं। यह शेष राशि दोनों को सदैव निश्चिन्त रखती है। धर्मसम्मत उद्योग द्वारा प्राप्त आय को 'योग' और विवेकपूर्वक की गयी बचत की रक्षा को ही 'क्षेम' कहा जाता है। यह शेष राशि ही जीवन का विश्वसनीय सम्बल या सहारा है। गीता (9.22) में कृष्ण स्वयं को 'योग' और 'क्षेम' का वाहक बताते हुए कहते हैं— 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'। लक्ष्मी जी योगक्षेमस्वरूपा हैं और उनका वाहन है गरुड़।

लक्ष्मी का दूसरा वाहन उलूक है। यह उस मूर्ख और भ्रष्ट व्यक्ति का प्रतीक

है, जो धर्मपूर्वक अर्जित अपनी पैतृक सम्पत्ति को घूत-क्रीड़ा, मदिरापान, व्यभिचार आदि दुर्व्यसनों में बर्बाद कर देता है तथा अपने कुकर्मों के कारण अनेक संकटों में फँसकर रात-दिन चिन्तातुर रहता है। यहाँ लक्ष्मी 'चञ्चला' का रूप ग्रहण करके खिसक जाना ही उचित समझती हैं। यहाँ शेष भी नाग बनकर उसे डसता है और उसकी जीवनलीला समाप्त कर देता है।

लक्ष्मी-पूजा का प्रमुख पर्व है दीपावली। दीपावली अन्धकार पर प्रकाश, मलिनता पर स्वच्छता, विपन्नता पर सम्पन्नता की विजय का पर्व है। यह रावण पर राम की, दुराचार पर सदाचार की विजय का पर्व है। मिट्टी के दीपक में प्रज्वलित वर्तिका मानव-शरीर में भास्वर अंतश्चेतना का प्रतीक है। ज्ञान-ज्योति के बिना मनुष्य धर्मनिष्ठ और उद्योगधर्मी नहीं हो सकता। इसलिए दीपावली के पर्व पर लक्ष्मी देवी के साथ विवेक और अंतर्ज्ञान के देवता गणेश की भी पूजा की जाती है। यह इस तथ्य का भी प्रमाण है कि विष्णु और शिव के दोनों देव-परिवारों में परस्पर कितना सद्भाव और सहयोग है ! गणेश में जो विवेक, दूरदृष्टि, सूझ-बूझ आदि गुणों का भाण्डार विद्यमान है, उनमें से अनेक गुण लक्ष्मी के वाहन गरुड़ में भी पाये जाते हैं। इसीलिए गणेश तो विनायक हैं ही, गरुड़ भी सही दिशा में ले जानेवाले और धर्मसंगत ध्येय तक पहुँचानेवाले 'विनायक' कहे जाते हैं। जब तक लक्ष्मी गणेश की विवेक-दृष्टि और अपने सनातन वाहन गरुड़ की दूरदृष्टि से प्रेरित रहती हैं, तब तक वे सत्पात्रों को निरन्तर सुख-सम्पत्ति प्रदान करती रहती हैं। दीपोत्सव सुमति-संचालित व्यक्तियों के जीवन में तो नूतन चेतना का संचार करता ही है, साथ ही कुमतिग्रस्त धनपतियों की विवेक की आँखें भी खोलता है। धर्मसम्मत आय का धर्मसम्मत व्यय ही सच्ची लक्ष्मी-पूजा है।

लक्ष्मी और विष्णु के मन्दिर पूरे भारत के नगरों और गाँवों में पाये जाते हैं। अन्त में लक्ष्मी देवी की स्तुति प्रस्तुत है—

ईश्वरी कमला लक्ष्मीश्चला भूतिर्हरिप्रिया ।

पद्मा पद्मालया सम्पद्रमा श्रीः पद्मधारिणी ॥

विश्वरूपस्य भार्यासि पद्मे पद्मालये शुभे ।

सर्वतः पाहि मां देवि महालक्ष्मि नमोऽस्तुते ॥'

3. दुर्गा

कोई भी गति या प्रगति शक्ति के बिना असम्भव है। गतिरोधों को दूर करने के लिए



देवी दुर्गा

तो और भी प्रचण्ड शक्ति की आवश्यकता है। दुर्गा सृष्टि की आद्याशक्ति हैं। सृष्टि की गतिशीलता का मूल स्रोत है आद्याशक्ति। शिव विश्वमंगल के देवता हैं। अमंगल को दूर करके मंगल का मार्ग प्रशस्त करनेवाली शक्ति का नाम है दुर्गा। दुर्गा शक्ति हैं तथा उन्हीं के बल पर शिव शक्तिमान् हैं। तभी तो वे शिव की अर्द्धांगिनी हैं। अर्द्धनारीश्वर के रूप में शिव और शक्ति तन-मन से एकाकार हैं। दोनों में अद्वैत है। दोनों की यह अभिन्नता अखण्ड दाम्पत्य का उत्कृष्ट निदर्शन है। शिव विश्वास हैं, तो भवानी श्रद्धा हैं। श्रद्धा और विश्वास के संगम से ही साधकों और सिद्धों को अपनी आत्मा में स्थित विश्वात्मा या परमात्मा का साक्षात्कार होता है और सन्मार्ग पर ले जानेवाले आत्मज्ञान की आँखें खुलती हैं—

‘भवानीशंकरी वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणी ।

याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥’

— श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, मंगलाचरण, 2

भारतीय संस्कृति की आत्मा है धर्म। धर्म की रक्षा और पोषण के लिए अधर्म का विनाश अनिवार्य है। दुर्गा देवी अधर्म के विनाश के द्वारा ही धर्म की रक्षा और पोषण करती हैं। वे धर्मविरोधी आसुरी शक्तियों के विनाश के कारण ही देवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। दुर्ग और दुर्गम नाम के राक्षसों के संहार के कारण ही उनका नाम दुर्गा पड़ा। इनके अतिरिक्त उन्होंने अपूर्व शौर्य और साहस का परिचय देते हुए मधु-कैटभ, शुम्भ-निशुम्भ, चण्ड-मुण्ड, महिष आदि असुरों का विध्वंस करके अपने अद्भुत रणकौशल का परिचय दिया। उनकी शूरवीरता की रोमाञ्चक कथाओं से पुराणों के कलेवर में वीर रस का अनूठा संचार हुआ है। उनका शौर्य धर्माश्रित और अधर्म-विरुद्ध है। असुरों के विनाश के द्वारा उन्होंने देवताओं और सज्जनों की दुर्गति का विनाश किया। दुर्गतिनाशिनी होने के कारण भी उनका नाम दुर्गा पड़ा। दशमहाविद्यास्तोत्रम् (श्लोक 6) में कहा गया है कि दुर्गति का नाश करनेवाली महामाया दुर्गा को मैं प्रणाम करता हूँ—

‘प्रणमासि महामायां दुर्गां दुर्गतिनाशिनीम्’

दुर्गा के पौराणिक स्वरूप और अन्य नामों पर विचार करने से पूर्व यहाँ उनके स्वरूप के वैदिक स्रोतों पर विचार करना प्रासंगिक होगा। यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि वेदों में ‘शक्ति’ नाम की कोई देवी नहीं है। अतः उनके स्वरूप के चित्रण का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, यह अवश्य है कि वहाँ उषा, श्रद्धा,

दिति-अदिति, वाक् आदि की देवियों के रूप में स्तुति की गयी है। इन वैदिक देवियों के अनेक गुण और लक्षण लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा नामक पौराणिक देवियों में भी अपनी छटा छिटकाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। वैदिक देवियों में वाक् का स्वरूप विशेष प्रभावशाली और व्यापक रूप में चित्रित हुआ है। वाग्देवी के बहुआयामी लक्षणों में पौराणिक सरस्वती देवी के लक्षण तो प्रमुखता से उपलब्ध हैं ही, साथ ही लक्ष्मी और दुर्गा के भी अनेक लक्षण वहाँ सुलभ हैं। निश्चय ही पौराणिक दुर्गा के मूल लक्षण— अदम्य शक्ति और दुष्टों से युद्ध— वैदिक वाग्देवी से ही प्रेरित और प्रभावित रहे हैं। उपर्युक्त मान्यता की पुष्टि के लिए यहाँ ऋग्वेद की एक ऋचा (10. 125.6) का शब्दशः अनुवाद अवलोकनार्थ प्रस्तुत है। वाग्देवी अपने वर्चस्व की महिमा पर प्रकाश डालते हुए स्वयं कहती हैं : “मैं ही रुद्र के लिए उसके धनुष की प्रत्यञ्चा खींचती हूँ।” यह बात ध्यान देने योग्य है कि यहाँ रुद्र का उल्लेख भी हुआ है और वाग्देवी रुद्र की प्रेरक शक्ति के रूप में अंकित हुई हैं। दुर्गा के रुद्राणी रूप का स्रोत भी यहाँ स्पष्ट परिलक्षित होता है।

पौराणिक युग में अनेक कथाओं के माध्यम से दुर्गा देवी के विविध रूपों और नामों की संख्या बढ़ती चली गयी। पूरे भारत में देवी के विभिन्न रूपों और नामों के 52 शक्तिपीठ हैं। बाद में नामों की संख्या बढ़ते-बढ़ते 108 और फिर एक सहस्र तक जा पहुँची। सती, पार्वती, उमा, गौरी, दुर्गा एक ही आद्याशक्ति के विविध रूप और नाम हैं। इनके अन्य प्रमुख नाम हैं— काली, रुद्राणी, कल्याणी, चण्डिका, शारदा, गिरिजा, मंगला, नारायणी, माधवी, जयन्ती, भार्गवी, महिषमर्दिनी, भैरवी, वेदमाता, गायत्री, सावित्री, महालक्ष्मी, वागीश्वरी, माहेश्वरी, कामेश्वरी, त्र्यम्बका, भद्रकाली आदि। नवरात्रों में जिन नवदुर्गाओं का पूजन होता है, वे हैं— शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डिका, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री।

यदि देवी के प्रमुख नामों पर विचार किया जाये तो, निम्नलिखित निष्कर्ष उभरकर आते हैं—

1. कुछ नाम तो देवी के जन्म-स्थान, पिता, पति, पुत्र आदि के सूचक, स्थूल, अभिधात्मक नाम हैं, यथा— शैलपुत्री, पार्वती, गिरिजा, शैलजा, शिवानी, शिवा, रुद्राणी, भवानी, स्कन्दमाता आदि।
2. कुछ नाम देवी के दयालु, कृपालु, मंगलकारी स्वरूप को लक्षित करते हैं, यथा—

कल्याणी, मंगला, सिद्धिदात्री, क्षमा, शरण्या आदि।

3. कुछ नाम देवी के अमंगलहारी, असुरसंहारी, दुर्गतिनाशक, प्रचण्ड स्वरूप को उनके भीतर की पूरी उग्रता और आवेश के साथ साकार करते हैं, यथा— चण्डिका, चामुण्डा, भैरवी, मुण्डमालिनी, महिषमर्दिनी, महाकाली, कालरात्रि आदि।
4. कुछ नाम समन्वय-भावना और स्वरूप-विस्तार की प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं। इनमें सरस्वती और लक्ष्मी के नामों को भी दुर्गा के नामों के रूप में अपनाया गया है और उन्हें भी देवी के साथ एकाकार मान लिया गया है, यथा— वागीश्वरी, शारदा, महालक्ष्मी, नारायणी, कमला, वैष्णवी, विष्णुमाया।
5. देवी के कुछ नाम माता की ममता से आपूरित हैं, यथा— अम्बा, जगदम्बा, मातृका, विश्वमाता, अन्नपूर्णा, अन्नदा, धात्री।
6. कुछ नाम नारी के सतीत्व, संयम, सात्त्विकता को दर्शाते हैं, यथा— सती, ब्रह्मचारिणी।
7. कुछ नामों में वैदिक ज्ञान-ज्योति के प्रति गहन निष्ठा, लगाव और जुड़ाव लक्षित हुआ है, यथा— वेदमाता, सावित्री, गायत्री।

स्पष्ट है कि दुर्गा देवी सर्वगुणसम्पन्न हैं। लक्ष्मी और सरस्वती को भी आत्मसात् कर लेने के कारण उनमें इन दोनों के गुण और लक्षण भी समाविष्ट हो गये हैं। वे नारी के चरमोत्कर्ष का मूर्त और सजीव रूप हैं। नारी-शक्ति उनमें पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है। नारी के शक्तीकरण का आन्दोलन उनमें सक्रिय रूप में साकार हुआ है। वे पतिव्रता पत्नी, ममतामयी माता और मंगलकारिणी के साथ अमंगलहारिणी, अदम्य, आद्याशक्ति हैं। उनकी शक्ति वैदिक ज्ञान-ज्योति से भास्वर है। वे जितनी उदार और करुणामयी हैं, उतनी ही उग्र और प्रचण्ड भी हैं। वे जितनी सज्जनों की सम्पोषिका हैं, उतनी ही आतंकियों, उग्रवादियों और अत्याचारी असुरों की विकट विध्वंसिका हैं। उनका नारीत्व सम्पूर्णता के शिखर पर समासीन है। उनमें विरोधी सीमान्तों का सम्यक् सन्तुलन और सामञ्जस्य है, जो अनुपम और अद्वितीय है।

चित्त को रमानेवाली विविध मूर्तियों में साकार दुर्गा देवी का विलक्षण और उद्बोधक स्वरूप अपने अंग-प्रत्यंग में अनेक गूढ़ और दिशा-दर्शक सन्देश सँजोये हुए है। माँ दुर्गा के लाल वस्त्र उनकी तेजोमयी दिव्यता के प्रतीक हैं। लाल रंग

निर्विकारता, भास्वरता और अनुराग का प्रतीक है। सन्त कबीर को अपने लाल (प्रभु) की लालिमा समूचे विश्व में व्याप्त दिखलायी पड़ती है— **‘लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल’**। पवित्रता की प्रतिमूर्ति कन्याओं को दुर्गा भवानी का रूप मानकर लाल वस्त्र पहनाने की परम्परा आज भी प्रचलित है। देवी के शीश के पीछे एक आभामण्डल है, जो देवी के ओजस्वी, तेजस्वी, ऊर्जावान् व्यक्तित्व का प्रतीक है। जिस प्रकार सूर्य अपनी तेजस्वी किरणें विकीर्ण करता है, उसी प्रकार विश्वधात्री देवी अपने आत्मालोक की प्रभावी किरणों से जड़-चेतन जगत् को आभासित करती हैं। देवी की दिव्य दीप्ति भी सूर्य की प्रभा के समान ही जीवनदायिनी और आरोग्यवर्द्धिनी है। दुर्गा देवी कण्ठ में 108 मनकों की माला धारण करती हैं। माँ दुर्गा आद्याशक्ति के रूप में सम्पूर्ण देश और काल में व्याप्त हैं। काल को वश में रखने के कारण वे ‘काली’ नाम से विभूषित की गयी हैं। सूर्य का व्यास पृथिवी के व्यास से 108 गुना बड़ा बताया जाता है। कालगणना 27 नक्षत्रों की गति पर निर्भर है। 27 नक्षत्रों की गति 4 प्रहर के हिसाब से देखा जाये, तो कालगणना 108 होती है। इसीलिए काली माँ के मनकों की संख्या 108 रखी गयी है। सूर्य माँ दुर्गा की शक्ति का ही ज्योतिर्मय पिण्ड है।

दुर्गा के अधिकतर स्वरूपों के साथ आठ भुजाएँ पायी जाती हैं। उनका अष्टभुज रूप ही बहुप्रचलित है। किन्तु कुछ रूपों में चार भुजाएँ मिलती हैं तथा किसी-किसी में दस भी। देवी की ये भुजाएँ उनकी विश्वव्याप्ति की प्रतीक हैं। इसी प्रकार अष्टभुज रूप उनकी आठों दिशाओं में व्याप्ति दर्शाता है। चारों दिशाओं में उनके बीच की चार दिशाएँ जोड़ने से दिशाओं की संख्या आठ हो जाती है। उत्तर-पूर्व की मध्यवर्ती दिशा ईशान है, पूर्व-दक्षिण के मध्य की दिशा आग्नेय है, दक्षिण-पश्चिम के मध्य की दिशा वायव्य है तथा पश्चिम-उत्तर के मध्य की दिशा नैऋत्य है। उक्त आठों दिशाओं में ऊपर और नीचे की दो दिशाएँ जोड़ने से दिशाओं की संख्या दस हो जाती है। दुर्गा का दशभुज रूप उनकी दश दिशाओं में व्याप्ति का बोध कराता है। कुल मिलाकर वे ब्रह्माण्डव्यापी हैं।

दुर्गा के हाथों में अस्त्र-शस्त्र के अतिरिक्त अन्य उपकरण भी हैं। इन सभी के प्रतीकात्मक अर्थ हैं। उनके सबसे ऊपर के दायें हाथ में विष्णु के समान सुदर्शन चक्र है, जो असुर-संहार के निमित्त एक प्रक्षेपास्त्र तो है ही, भावात्मक स्तर पर यह सुदर्शन अर्थात् उत्तम चिन्तन का भी प्रतीक है। यह दया, प्रेम, करुणा आदि सद्भावों के विकास और काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर नामक पञ्चविकारों के

विनाश का भी सन्देश देता है। वस्तुतः दुर्गा भीतर और बाहर के शत्रुओं के संहार में गहरी आस्था रखती हैं। दुर्गा देवी की बायीं तरफ़ के सबसे ऊपर के हाथ में शंख है। शंखनाद से गहन कम्पन और स्पन्दन होता है। शंखनाद शत्रुओं के कलेजों को प्रकम्पित करता है और स्वपक्ष के योद्धाओं के हृदयों को उत्साह और उल्लास से तरंगित करता है। यह विरोधी पक्ष के लिए चुनौती और स्वपक्ष के लिए प्रोत्साहन का प्रतीक है। देवी की दायीं ओर के दूसरे हाथ में तलवार है। यह असुरों के शीश तो काटती ही है, साथ ही दम्भियों के दम्भ और अहंकार को भी काटती है। यह अपनी दिव्य दीप्ति से भक्तों, सन्तों और सज्जनों के भवबन्धनों को काटकर उन्हें इस जीवन में ही मुक्ति अर्थात् जीवन्मुक्ति प्रदान करती है। माँ दुर्गा के बायीं ओर के दूसरे हाथ में धनुष-बाण है। धनुष-बाण प्रतीक है बींधने, भेदने या छेदने का। अमंगल के परिहार के उद्देश्य से दुर्गा माँ धनुष-बाण से असुरों के वक्षों को बींधकर उनका विनाश करती हैं। मानसिक स्तर पर वे अपने मन के धनुष की प्रत्यञ्चा पर शुभ संकल्पों के वाणों से जन-मन की आसुरी वृत्तियों का विनाश करके उनके स्थान पर सद्वृत्तियों का संचार करती हैं। माँ के तीसरे दायें हाथ में गदा है। गोलाकार गदा महाविनाशक शक्ति का प्रतीक है। इसकी मूँठ अर्थात् नियन्त्रण दुर्गा के हाथ में है। असुरनाशिनी दुर्गा अपनी गदा से असुरों की खोपड़ियों और अवशिष्ट असुरों के अहंकार को चकनाचूर करने की कला में निष्णात हैं। उनके बायीं ओर के तीसरे हाथ में कमल है, जो उनके अंतःकरण की शुद्धता, निर्लिप्तता और अनासक्ति का प्रतीक है। उनका सबसे निचला दायीं हाथ अभय मुद्रा में है, जो दयालु, कृपालु माँ की आश्वस्तकारी, मुक्त मनोदशा और मंगल-वर्षा का प्रतीक है। यह अभय मुद्रा भक्तों को निश्चिन्त, आश्वस्त और आशान्वित रहते हुए अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर रहने का सन्देश देती है। माँ दुर्गा बायीं ओर के सबसे निचले हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए हैं। यह त्रिशूल असुरसंहारक शस्त्र तो है ही, साथ ही इसका सूक्ष्म आशय भी है। यह त्रिशूल दैहिक, दैविक, भौतिक तापों या कष्टों का प्रतीक है। देवी अपने विरोधी असुरों को दैहिक, दैविक, भौतिक सन्तापों की ज्वाला में भस्म कर देती हैं।

शक्तिस्वरूपा दुर्गा माँ का वाहन सिंह है, जो निर्भीकता, शौर्य और संहार का प्रतीक है। सिंहसरीखे शक्तिशाली, आक्रामक, हिंस्र जन्तु पर सवारी करना प्रचण्ड चण्डिका, कालरात्रि, भैरवी के ही वश की बात है। भैरवी की भाँति खतरों से खेलनेवाले जुझारू योद्धा ही राजपद पाकर सिंहासन पर विराजते थे और अपने नाम के साथ ही ‘सिंह’ जोड़कर असीम गौरव की अनुभूति करते थे। वाहन-रूप में सिंह

का चयन आद्याशक्ति माता की अजेय शक्तिमत्ता का प्रतीक है। ऐसी सिंहासीन निःशंक सत्ता का आतंकवादी, आक्रामक शक्तियाँ तनिक भी बाल बाँका नहीं कर सकतीं।

प्रश्न उठता है कि माँ दुर्गा के सारे शक्तिपीठ पर्वतों पर ही क्यों हैं? उन्हें ‘पहाड़ोंवाली माता’ क्यों कहा जाता है? सब जानते हैं कि बाहरी प्रकृति और मानव की भीतरी प्रकृति का नाता चिरन्तन है। प्राकृतिक परिवेश जितना स्वच्छ होगा, मानव का अंतःकरण भी उतना ही शुद्ध और सात्विक होगा। धूल, धुआँ, प्रदूषित वायु का पर्वत से कोई नाता नहीं। दुर्गन्धित वायु अधोमुखी होती है, तो स्वच्छ वायु ऊर्ध्वमुखी। इसीलिए प्राचीन काल से ही ऋषि-मुनि, तपस्वी जन तपोभूमि के रूप में पर्वतों की शरण में जाते रहे हैं। पर्वतपुत्री पार्वती की तो पावन जन्मभूमि ही पर्वत है। इसलिए उनके पीठों की स्थापना पर्वतों पर ही सर्वथा युक्तिसंगत है। उन्हें ‘पहाड़ोंवाली माता’ कहना भी इसी लिए उचित है।

दुःख और दुर्भाग्य का विषय है कि दुर्गा की पूजा और उपासना की आड़ में अनेक स्वार्थी और भ्रष्ट साधकों ने अनेक भ्रांतियाँ फैलायीं और धर्म के नाम पर अधर्म को बढ़ावा दिया। पौराणिक कथाओं में लिखित युद्धरत दुर्गा के मद-पान का वास्तविक आशय था असुरों के मद (दम्भ, अहंकार) को समाप्त करना, किन्तु इसका अर्थ लगाया गया मदिरापान। इसी प्रकार कथाओं में पशु-बलि का मूल आशय था अपने भीतर की पशुता का त्याग या उत्सर्ग, किन्तु इसका अर्थ भैंसे या बकरे या अन्य किसी पशु की बलि लगाया गया। इसी प्रकार महिषासुर-वध का अर्थ भ्रान्तिवश अथवा स्वार्थवश लगाया गया महिष (भैंसे) की बलि। इस प्रकार माता के नाम पर पशु-बलि की प्रथा बल पकड़ती चली गयी। यह प्रथा नेपाल में पूर्ववत् प्रचलित है, तथा भारत में कहीं-कहीं अब भी भैंसे की बलि दी जाती है। शक्ति की उपासना पर आधारित ‘शाक्त मत’ में बौद्ध सिद्धों की तान्त्रिक साधना के समावेश के कारण ‘वाममार्ग’ के अंतर्गत पञ्चमकार— मांस, मछली, मदिरा, मुद्रा (स्त्री) और मैथुन का भी प्रचलन रहा, जो छठी से बारहवीं शती तक जारी रहा।

यह भी दुर्भाग्य की बात है कि सत्स्वरूपा देवियों में भी गुण-भेद को आधार बनाकर भेद-भाव किया गया तथा सरस्वती को सत्त्वगुणप्रधान, लक्ष्मी को रजोगुणप्रधान और दुर्गा को तमोगुणप्रधान बताया गया। इस प्रकार जगन्माता आद्याशक्ति दुर्गा की तमोगुणप्रधानता की आड़ में तमोगुणी साधकों की तमोगुणी प्रवृत्तियों ने फलने-फूलने का रास्ता निकाल लिया। मूलरूप में शाक्त मत नारी के

सशक्तीकरण, उदात्तीकरण और अभ्युत्थान का परम पुनीत साधना-मार्ग था। उसे उसके उसी उत्कर्ष पर पहुँचना अपेक्षित है। वास्तव में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश जिस प्रकार एक ही परम सत्ता के विविध रूप हैं; उसी प्रकार सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा भी एक ही परम सत्ता के विविध रूप हैं। इनकी भिन्नता में भी अभिन्नता है। इनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है। ये सभी अपने स्वरूप में सर्वोपरि हैं।

दुर्गा-पूजा का सबसे बड़ा पर्व नवरात्र है। यह पर्व पूरे भारत में भारी उल्लास और निष्ठा के साथ मनाया जाता है। वस्तुतः यह पर्व छह महीने के अन्तराल पर वर्ष में दो बार ऋतु-परिवर्तन के अवसर पर मनाया जाता है। शारदीय नवरात्र वर्षा ऋतु के उपरान्त, शरद ऋतु के समारम्भ पर तथा वासन्ती नवरात्र हेमन्त ऋतु के पश्चात्, वसन्त ऋतु के शुभारम्भ पर मनाया जाता है। ऋतु-परिवर्तन पर वातावरण में घटित बदलाव से उभरे अनेक प्रकार के उदर-विकारों के परिहार के उद्देश्य से नवरात्र के अवसर पर नौ दिन के उपवास का प्रावधान किया गया है, जिसमें अन्नाहार के स्थान पर फलाहार की व्यवस्था रहती है। शारीरिक शुद्धि के साथ मानसिक शुद्धि के लिए मार्कण्डेयपुराणोक्त *श्रीदुर्गासप्तशती* और तुलसीकृत *श्रीरामचरितमानस* का पाठ किया जाता है। दुर्गा देवी के साथ ही लक्ष्मी, सरस्वती, गणेश, कार्तिकेय की भी पूजा की जाती है। शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डका, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री नामक नवदेवियों में से प्रतिदिन क्रमशः एक की पूजा का विधान है। दोनों नवरात्रों में अष्टमी को कन्याओं का पूजन किया जाता है तथा उन्हें उपहार दिये जाते हैं। इस पर्व के साथ श्रीराम का भी गहरा सम्बन्ध है। वासन्ती नवरात्र के साथ चैत्र शुक्ल नवमी को ‘श्रीरामनवमी’ के अवसर पर राम का जन्मोत्सव मनाया जाता है तथा व्रत रखा जाता है। इसी प्रकार शारदीय नवरात्र के साथ आश्विन शुक्ल दशमी को ‘विजयदशमी’ के अवसर पर श्रीराम की रावण पर विजय का उत्सव समारोहपूर्वक मनाया जाता है। इससे पूर्व के नौ दिन रामलीला का मंचन होता है।

दुर्गा के मन्दिर पूरे भारत के नगरों और गाँवों में पाये जाते हैं। यहाँ केवल कुछ प्रसिद्ध मन्दिरों का उल्लेख ही सम्भव है। जम्मू-काश्मीर का वैष्णव देवी मन्दिर, हरिद्वार का मनसा देवी मन्दिर, अमृतसर का दुर्गियाना मन्दिर, काँगड़ा का ज्वालादेवी मन्दिर, कर्नाटक का चामुण्डेश्वरी मन्दिर, कोलकाता का काली मन्दिर, दिल्ली का कालका देवी मन्दिर, वाराणसी का दुर्गा मन्दिर, गुवाहाटी का कामाख्या देवी मन्दिर, जोधपुर का चामुण्डा मन्दिर माँ दुर्गा की महामहिमा के कीर्ति-स्तम्भ कहे जा सकते

हैं।

अन्त में मंगलमूर्ति देवी को नमन—

‘सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥
जयन्ती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी ।
दुर्गा शिवा क्षमा धात्री स्वाहा स्वधा नमोऽस्तु ते ॥’



आठवाँ अध्याय

गणेश, कार्तिकेय और शिव-परिवार के वाहन

1. गणेश

वै

दिक देवताओं में गणेश का स्थान गौण है। गणेश के नाम का सर्वप्रथम उल्लेख यजुर्वेद (23.19) में इस प्रकार मिलता है— ‘गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे’। गणेश की स्तुति करते हुए यहाँ आहुति दी गयी है। वैदिक साहित्य में उनके स्वरूप का स्पष्ट विकास देखने को नहीं मिलता।

पौराणिक युग में तो गणेश की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि वे देवताओं में सर्वश्रेष्ठ माने जाने लगे। यह निश्चित है कि वैदिक युग में गणराज्यों और उनके स्वामी गणपति या गणाधिपति की जो परम्परा प्रारम्भ हुई थी, वह पौराणिक युग में भी चलती रही। हिमालय पर्वत के आस-पास के क्षेत्र में शिवजी का गणराज्य था। ‘संस्कृतशब्दार्थकोस्तुभ’ में कैलास का दूसरा नाम ‘गणाचल’ दिया गया है। यह गणाचल अर्थात् कैलास ही शिव और गणेश के गणराज्य की राजधानी थी। उक्त कोश में ‘गणेश्वर’, ‘गणेशानन’, ‘गणाधिपति’ शब्दों के अर्थ शिव और गणेश— दोनों ही दिये गये हैं, जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि शिव गणराज्य के महागणाधिप थे तथा उनके सद्भावी सुपुत्र गणेश उन्हीं के निर्देशन में गणराज्य की व्यवस्था का नियमन और संचालन करते थे। इससे उनकी पितृभक्ति और प्रजा-प्रेम— दोनों का प्रमाण मिलता है। शिवपुराण में ‘गण’ का प्रयोग शिवभक्त के



श्रीगणेश, ऋद्धि एवं सिद्धि

अर्थ में किया गया है। वहाँ गणेश को सर्वोच्च शिव-भक्त के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

उपर्युक्त गणराज्य में दुर्ग की रक्षा का दायित्व सिंहवाहिनी दुर्गा को सौंपा गया था। गणराज्य की रक्षा का दुर्गम दायित्व सेनापति कार्तिकेय के कन्धों पर था। कैलास इसकी राजधानी थी, जहाँ स्थित कोषागार के अध्यक्ष थे धनपाल कुबेर। भवन-निर्माण आदि का कार्य कुशल शिल्पी विश्वकर्मा के हाथों में था। गणराज्य का विस्तार दक्षिण में काशी तक था। शिव का एक नाम काशीनाथ भी है।

गणेश जी सच्चे राष्ट्रभक्त, प्रजा-हितकारी, पिता-पुजारी होने के साथ ही मातृभक्त भी थे। माता-पिता के प्रति उनकी सच्ची भक्ति-भावना का उज्ज्वल उदाहरण उनको सारे देवताओं में प्रथम पूजनीय के पद पर प्रतिष्ठित करानेवाली वह कथा है, जिसके अनुसार यह शर्त रखी गयी थी कि जो देवता अपने वाहन पर आसीन होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके सबसे पहले लौटेगा, उसी की सभी धार्मिक-सामाजिक अनुष्ठानों के पूर्व में सर्वप्रथम पूजा-अर्चना की जाया करेगी। अपने वाहन मूषक की सीमित क्षमताओं का ध्यान करके गणेश जी चिन्तातुर हो उठे। किन्तु उनकी प्रखर बुद्धि ने उन्हें तत्काल तनाव से मुक्त कर दिया। उन्हें एक अद्भुत और अचूक उपाय सूझा। जैसे ही देवताओं की दौड़ की प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई, वैसे ही उन्होंने अपनी योजनानुसार मूषक पर सवारी का अभिनय करते हुए, परम भक्तिभाव से अपने माता-पिता (उमा-शंकर) की कुछ ही क्षणों में परिक्रमा पूरी की और अपनी सूझबूझ से सबको चकित और प्रभावित करते हुए यह प्रतियोगिता जीत ली। उन्होंने अपने बुद्धि-कौशल से निर्णायकों-सहित अन्य सब देवताओं को यह भली प्रकार जता दिया कि 'माता-पिता' की महिमा तो पूरे ब्रह्माण्ड से भी कहीं बढ़कर होती है। तभी से सभी अनुष्ठानों और आयोजनों के अवसर पर उनकी पूजा अन्य सब देवी-देवताओं से पहले होने लगी।

गणेशजी के नाम उनकी आकृतिगत, बौद्धिक और आचारिक विशेषताओं के द्योतक हैं। 'सुमुख' (सुन्दर मुख), 'एकदन्त' (एक दाँतवाला), 'कपिल' (बादामी रंग का), 'भालचन्द्र' (मस्तक पर चन्द्रकला धारण करनेवाला), 'गजानन' (हाथी के मुखवाला), 'लम्बोदर' (बड़े पेटवाला), 'वक्रतुण्ड' (टेढ़ी सूँड़वाला), 'महाकाय' (बड़ी कायावाला) आदि नाम उनकी आकृति की विशिष्टताओं को दर्शाते हैं। 'धूम्रकेतु' नाम उनके ध्वज के धूमिल रंग का द्योतक है। 'विनायक' का अर्थ है सफल नेतृत्व करनेवाला। यह उनके कुशल नेतृत्व और सुशासन को दर्शाता है। कुछ नाम उनके

अमंगलहारी, संकटनिवारक रूप पर प्रकाश डालते हैं, यथा— ‘विघ्नेश’, ‘विघ्नेश्वर’ । उनका एक नाम ‘विकट’ भी है, जो अपने पिता के रुद्र-रूप तथा माता के चण्डी-रूप को अपने भीतर समाहित किये हुए है। वस्तुतः जीवन में मंगलकारिणी सौम्यता जितनी मूल्यवान् है, उतनी ही प्रतिकूल और असह्य स्थितियों में विकटता और उग्रता भी मूल्यवान् सिद्ध होती है।

यहाँ गणेश जी के शरीरगत विविध अवयवों, अस्त्र-शस्त्र आदि के प्रतीकार्थों पर विचार करना समीचीन होगा। गणेश जी की अद्भुत और आकर्षक आकृति में मनुष्य और हाथी के अवयवों का बहुत ही जटिल और सुहाना संगम उपस्थित किया गया है। हाथी काया से जितना विशाल है, बुद्धि से भी उतना ही कुशाग्र है। गणेश जी ‘गजानन’ हैं। इसीलिए उनका मस्तक चौड़ा है। उनका यह बड़ा मस्तक मुक्त, उदार, स्वच्छ चिन्तन का द्योतक है। गणेश विनायक के रूप में खुले मस्तिष्क से तटस्थ और सर्वहितकारी निर्णयों पर पहुँचते हैं। गणेश जी की आँखें भी हाथी की आँखों की भाँति छोटी हैं। ये छोटी आँखें उनकी तीव्र, एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धि और पारदर्शी अंतर्दृष्टि की द्योतक हैं। वे जन-मन में भीतर तक झाँक लेते हैं और कभी धोखा नहीं खाते। वे सही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। बड़ी-बड़ी आँखें भावुकता की द्योतक होती हैं। गणेश जी अपनी भावनाओं पर बुद्धि का नियन्त्रण रखते हैं और कभी सस्ते भावावेश के शिकार नहीं होते।

संस्कृत और हिन्दी के कोशों में ‘हस्त’ के दो अर्थ दिये गये हैं— हाथ और सूँड़। वास्तव में, सूँड़ ही हस्ती (हाथी) का हाथ है। इसलिए सूँड़-रूप हस्तवाले जन्तुओं को ‘हस्ती’ कहा जाता है। हाथी बड़े कौशल से अपनी लम्बी, लचकीली सूँड़ से हाथ का काम लेता है। वह सूँड़ से बड़े-से-बड़े वृक्षों को भी गिरा देता है और सूई-सरीखी सूक्ष्म वस्तुओं को भी उठा लेता है। वह सूँड़ से पानी भी पीता है और चारा भी ग्रहण करता है। हाथी सूँड़ से ही नाक का काम भी लेता है और अपनी लम्बी नाक से दूर तक की गन्ध सूँघ लेता है। गणेश जी उसी लम्बी नाक-रूपी खुफिया घ्राण-तन्त्र से गोपनीय बातों का पता लगाकर अनेक बाधाओं से मुक्ति पा जाते हैं और अपने सन्मार्ग से तनिक भी विचलित नहीं होते।

गणेश जी का छोटा मुख बुद्धिसंगत, सारपूर्ण अल्पभाषण का प्रतीक है। असंगत और असंयत बयानबाजी से बचना सच्चे और सफल शासन के लिए अनिवार्य शर्त है। हाथी का मुख होने पर भी वे एकदन्त हैं। पौराणिक कथा में उन्हें सोच-समझकर दूसरे दाँत से छुटकारा दिलाया गया है। सूँड़ उनका अत्यन्त

शक्तिशाली, विशिष्ट क्षमताओं से युक्त हाथ है। शासक को बाहरी आक्रमण की स्थिति में युद्ध-क्षेत्र में भी उतरना होता है। यह अनुभवसिद्ध बात है कि एक हाथ में दो हथियार योद्धा की युद्ध-क्षमता बढ़ाते नहीं, वरन् अवरोध उत्पन्न करके घटाते ही हैं। एकदन्त इकहरे हथियार का प्रतीक है। एकदन्त गणेश इकहरे दन्तरूपी हथियार की विपुल मारक क्षमता से युद्ध में विजय प्राप्त करते हैं और सारे विघ्नों का विनाश करते हैं।

गणेश जी का पेट इस बात का प्रतीक है कि वे एक कुशल शासक के रूप में शासनतन्त्र की सारी गोपनीय बातों को अपने पेट में ही पचा जाते हैं, इधर-उधर नहीं जाने देते। इसीलिए वे सब विवादों से मुक्त रहते हैं। बड़ा पेट उनकी गम्भीरता और धीरता का प्रतीक है।

गणेश जी की चार भुजाएँ उनके चतुर्दिश सद्भावना-प्रसार की प्रतीक हैं। ऊपर के दायें और बायें हाथों में उन्होंने क्रमशः अंकुश और पाश ग्रहण कर रखे हैं। अंकुश किसी भी प्रकार की निरंकुशता, अव्यवस्था और विघ्नों के विनाश का द्योतक है। इसी प्रकार पाश उद्दण्डों, अपराधियों और पापियों को पाशबद्ध करके कारावास में डालने का सूचक है। उनका यह पाशधर-रूप उनके विघ्नेश्वर-रूप का पोषक है। ऊपर के दोनों ओर के हाथों के अंकुश और पाश इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि कोई भी शुभचिन्तक शासक अमंगलहारी हुए बिना मंगलकारी सिद्ध नहीं हो सकता। गणेशजी विघ्नेश्वर होने के कारण ही ‘विनायक’ हैं। इसीलिए उनका ‘विघ्नेश्वर’ रूप ही विशेष वन्दनीय और अभिनन्दनीय रहा है—

‘उमासुतं शोकविनाशकारकम् । नमामि विघ्नेश्वरपादपंकजम् ॥’

गणेशजी अपने निचले दायें हाथ से सबके लिए आशीर्वादों और मंगलकामनाओं की वर्षा करते दिखलायी पड़ते हैं तथा बायें हाथ में मोद और मंगल का प्रतीक मोदक (लड्डू) ग्रहण किये हुए हैं। निचले दोनों हाथ उनके मंगलकारी स्वरूप के पोषक हैं। मोदकप्रियता गणेशजी के व्यक्तित्व के माधुर्य की प्रतीक है। मोदक उन्हें तो प्रिय है ही, उनके वाहन मूषक का भी अत्यन्त प्रिय भोजन है। यह जन-जन को प्रिय है तथा गणेश जी के जनरञ्जनकारी स्वरूप को दर्शाता है।

गणेश जी का वाहन मूषक है। चूहा प्रकृति से ही कुतरनेवाला, छिद्रान्वेषी और चञ्चल है। यह कुतर्की, अस्थिर, दुर्बुद्धि का प्रतीक है। परम विवेकी, स्थितप्रज्ञ, गहन चिन्तक गणेशजी-जैसे विनायक के मार्ग में यह ‘मूषक-मानसिकता’ सबसे बड़ी

बाधा है। इसलिए वे पूरी दृढ़ता से इस चञ्चल मानसिकता पर सवारी गाँठते हैं, और उसे नियन्त्रित करके सही दिशा और दृष्टि प्रदान करते हैं। कुतर्की भी कम बुद्धिमान् नहीं होता, बस तनिक-सा सही दिशा-निर्देश पाकर वह भी सुतर्की हो जाता है। गणेश जी मूषक पर सवारी करके यही सकारात्मक पद्धति अपनाते हैं। मूषक भी दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त होकर सन्मार्ग पर चल पड़ता है और गणेशजी का सच्चा वाहन सिद्ध होता है। सुमति-प्रेरित सुतर्क ही धर्म का मूलाधार है।

गणेश जी की दो पत्नियाँ हैं— ऋद्धि और सिद्धि। ऋद्धि का अर्थ है सम्पत्ति या समृद्धि और सिद्धि का अर्थ है सफलता। दोनों पत्नियों से उनके दो पुत्र हुए— क्षेम और लाभ। क्षेम का अर्थ है सञ्चित सम्पत्ति की सुरक्षा तथा लाभ का अर्थ है नयी सम्पत्ति की प्राप्ति। यह पूरा विवरण अपने आपमें बहुत ही सार्थक और सन्देशप्रद है। शुभचिन्तक और सजग, सत्कर्मी गणेश जितने मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर सफल और सम्पन्न हैं, वे उतने ही सफल, सम्पन्न भौतिक स्तर पर भी हैं। उनका समूचा परिवार सब प्रकार की सम्पन्नता का साक्षी है।

गणेश जी की महिमा इस तथ्य से स्वयंसिद्ध है कि विश्व में विभिन्न देशों में जितने मन्दिर गणेश जी के हैं, उतने अन्य किसी देवी या देवता के नहीं। विश्व का सबसे बड़ा मन्दिर भी गणेश-मन्दिर ही है, जो जर्मनी के प्रसिद्ध शहर बर्लिन में सन् 2009 ई. में बीस वर्ष में बनकर तैयार हुआ है। यह 84 हेक्टेयर क्षेत्र में बना है। यहाँ योग, भक्ति और अध्यात्म का सन्देश दिया जाता है। भारत में शिव-मन्दिरों में तो शिव-परिवार के सदस्य के नाते उनकी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं ही, अधिकतर विष्णु-लक्ष्मी के मन्दिरों में भी उनकी मूर्तियाँ पायी जाती हैं। राम और कृष्ण के मन्दिरों में भी गणेश जी विराजमान पाये जाते हैं। वाराणसी में गणेश के विविध नामों और रूपों की प्रतिमाओं से अलंकृत अनेक मन्दिर विद्यमान हैं। जयपुर में 'माता का मन्दिर' में गणेश जी नृत्य की मोहक मुद्रा में शोभायमान हैं। राजस्थान के अम्बेर में गणेश माता पार्वती और भ्राता कार्तिकेय के साथ विद्यमान हैं। महाराष्ट्र के अष्टविनायक-मन्दिर 'सिद्ध-पीठ' के नाम से विख्यात हैं।

'गणेश-पूजा' को समूचे भारत की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक एकता का सुदृढ़ माध्यम बनाने की दृष्टि से प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता और राष्ट्रपुरुष बालगंगाधर तिलक (1856-1920) का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने पूरे भारत को भावनात्मक एकता के सूत्र में बाँधने के उद्देश्य से सन् 1893 ई. में 'गणेशोत्सव' के जिस आयोजन का समारम्भ महाराष्ट्र में किया था, वह अब एक विराट् राष्ट्रीय पर्व

में परिणत हो चुका है। अब गणेशजी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के सबल संवाहक सिद्ध हो रहे हैं।

महाकवि तुलसीदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य *श्रीरामचरितमानस* के प्रारम्भ में मंगलविधायक गणेश और सरस्वती की एकसाथ वन्दना करते हुए लिखा है— 'मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ'। 'विनयपत्रिका' के प्रारम्भ में दी गयी उनकी 'श्रीगणेश-स्तुति' तो परम प्रसिद्ध है ही—

‘गाइये गनपति जगवन्दन । संकर-सुवन भवानी-नन्दन ॥ 1 ॥

सिद्धि-सदन, गज बदन विनायक । कृपा-सिंधु, सुंदर, सब लायक ॥ 2 ॥

मोदक-प्रिय मुद-मंगल-दाता । बिद्या-वारिधि, बुद्धि-विधाता ॥ 3 ॥

माँगत तुलसिदास कर जोरे । बसहिं रामसिय मानस मोरे ॥ 4 ॥’

अन्त में, गणेश जी के प्रति नमस्कार निवेदित है—

‘गजाननं भूतगणादिसेवितं कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम् ॥

उमासुतं शोकविनाशकारकं नमामि विघ्नेश्वरपादपंकजम् ॥

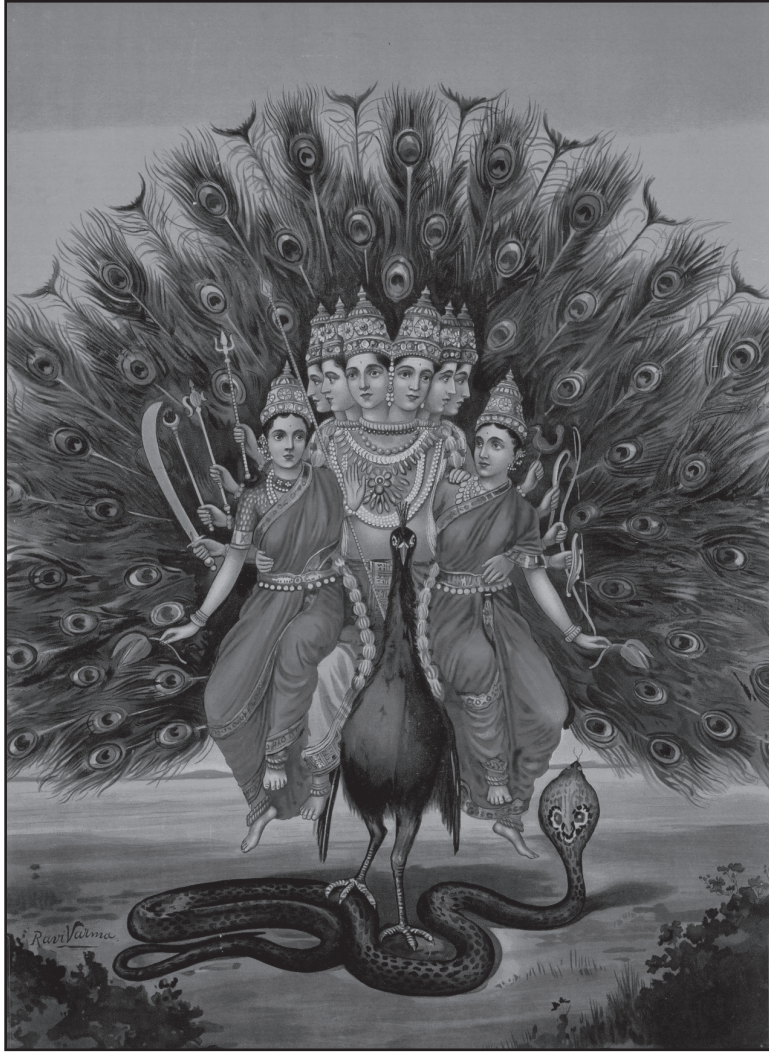
एकदन्तं महाकायं लम्बोदरगजाननम् ।

विघ्ननाशकरं देवं हेरम्बं प्रणमाम्यहम् ॥’

2. कार्तिकेय

कार्तिकेय का नाम किसी वैदिक संहिता में नहीं है। किन्तु इनका नाम देवेश इन्द्र के साथ जुड़ा है, जिनके निर्देशन में देवासुर-संग्राम वैदिक काल से ही चला आ रहा था। इन्द्र की देवसेना के सेनापति कार्तिकेय स्वयं इन्द्र द्वारा ही नियुक्त किये गये थे। इन्होंने असुरों में सबसे अधिक शक्तिशाली तारक नाम के असुर के संहार द्वारा अपने शौर्य और पराक्रम की धाक जमायी थी। सम्भवतः इसी आधार पर इनकी पत्नी का नाम 'देवसेना' बतलाया गया है। देवसेना के पति के नाते कार्तिकेय का नाम भी 'सेनापति' तथा 'देवसेनापति' रखा गया। इस धारणा की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि पुराणों में देवसेना की बहिन का नाम 'दैत्यसेना' बताया गया है।

भगवद्गीता का रचना-काल अधिकतर विद्वानों द्वारा ईसा-पूर्व पाँचवीं शती निर्धारित किया गया है। *गीता* (10.24) में श्रीकृष्ण ने स्वयं को सेनापतियों में स्कन्द अर्थात् कार्तिकेय बताकर उन्हें महान् सेनानायक के रूप में गौरवान्वित किया है— 'सेनानीनामहं स्कन्दः'। *महाभारत* और *वाल्मीकीयरामायण* में भी कार्तिकेय



कार्तिकेय-परिवार

का उल्लेख हुआ है। अतः गीता के रचनाकाल से दो-तीन शती पूर्व के उत्तर-वैदिक काल को ही कार्तिकेय की उद्भावना का काल माना जा सकता है।

पुराणों में कार्तिकेय के उद्भव की कथा काफी उलझी हुई है। सम्भव है कि कथा में रहस्यमयता और विस्मय की स्थितियाँ उपस्थित करके कथा को अधिक-से-अधिक नाटकीय और रोचक बनाने के उद्देश्य से ऐसा किया गया हो। पुराणों के अनुसार हिमालय ने अपनी पुत्री पार्वती का विवाह शिव जी के साथ किया। मधुर मिलन के समय में पार्वती शिवजी के वीर्य को धारण करने में असमर्थ रहीं। जब पृथिवी, अग्नि और फिर गंगा भी वीर्य को धारण करने में असमर्थ सिद्ध हुई, तो वीर्य को हिमालय के समीपवर्ती सरकण्डों के वन में फेंक दिया गया। वहीं गंगा की गोद (घाटी) में सरकण्डों के जंगल में तारकारि शिशु 'कुमार' का जन्म हुआ। इसी आधार पर उनका एक नाम 'शरजन्मा' भी प्रचलित हो गया। नवजात शिशु को दूध पिलाने के लिए देवताओं ने छह कृत्तिकाओं को भेजा। उनका एक साथ, समान रूप से स्तनपान करने के उद्देश्य से शिशु ने छह मुख धारण किये। कृत्तिकाओं द्वारा पालित-पोषित होने के कारण ही इनका 'कार्तिकेय' नाम पड़ा तथा छह मुखों के कारण इनका नाम 'षण्मुख' भी चल पड़ा। 'कार्तिकेय' चैत्र मास की पूर्णिमा को उत्पन्न हुए थे। जन्म के पश्चात् छठे दिन ही इन्द्र ने इन्हें देवसेनापति नियुक्त कर दिया। इस अवसर पर सभी देवताओं ने इनकी स्तुति की और उपहार भेंट किये।

चौथी शती में भारतीय इतिहास, धर्म और संस्कृति के 'स्वर्ण-युग' में महाकवि कालिदास ने कुमार (कार्तिकेय) के सम्भव (जन्म) की उलझी हुई कथा को सुलझाकर सरस और सुबोध रूप में प्रस्तुत किया। कथा की केन्द्रीय समस्या है अत्याचारी तारक नामक असुर के उत्पीड़न से देवताओं को मुक्त करना। धूर्त तारक तप करके ब्रह्माजी से यह वरदान प्राप्त कर चुका था कि जब भी कभी वह मारा जाये, तो शिव-पुत्र के द्वारा ही। इसके लिए शिव का विवाहित होना अनिवार्य था। जब पीड़ित देवता अपनी व्यथा-कथा सुनाने ब्रह्मा के पास गये, तो उन्होंने बताया कि केवल शिव का पुत्र ही तारक का वध कर सकेगा। यह सुनकर इन्द्र ने शिव को पाने के लिए तप करती हुई पार्वती के प्रति शिव का ध्यान आकर्षित करने का दायित्व कामदेव को सौंपा। काम की चेष्टाओं से ध्यान भंग होते ही शिव ने अपने तीसरे ज्वालामय नेत्र से काम को भस्म कर डाला। इस पर काम-पत्नी रति ने घोर विलाप किया, जिससे द्रवित होकर करुणामय शिव ने रति को आश्वस्त किया कि काम अब

भी अशरीरी रूप में सबके अंतःकरणों में सदा निवास करेगा। शिव ने ब्रह्मचारी-वेष में तपोमग्न पार्वती की परीक्षा ली तथा फिर आश्वस्त भाव से पार्वती से विधिवत् विवाह किया। *कुमारसम्भवम्* के अन्त में, अष्टम सर्ग में 'गर्भाधान' के विधान द्वारा कुमार के जन्म की पुष्ट पीठिका प्रस्तुत की गयी है और देवताओं की समस्या का सम्यक् समाधान किया गया है। कुमार के जन्म का ही सीधा अर्थ है तारक की शर्तिया मौत। महर्षि वाल्मीकि ने भी 'कुमारसम्भव' अर्थात् कुमार के जन्म को धन्य और पुण्य माना है। उन्होंने *रामायण* के बालकाण्ड में लिखा है—
‘कुमारसम्भवश्चैव धन्यः पुण्यस्तथैव च’।

कार्तिकेय की महिमा उनके सेनापतित्व पर निर्भर है। वे शक्ति, शौर्य, विजय के साथ ही अनुशासन, व्यवस्था आदि क्षमताओं के मूर्त रूप हैं। इसीलिए उनका एक नाम 'शक्तिधर' भी है। उनका 'स्कन्द' नाम भी उनके शक्ति-तत्त्व का द्योतक है। स्कन्द का अर्थ है ऊँची छलाँग लगानेवाला। उनका 'कुमार' नाम भी अत्यन्त सार्थक है। कुमार का एक अर्थ है बालक या पुत्र। अतः पुत्र की कामना करनेवाले भक्तजन उनकी पूजा इसी लालसा की पूर्ति के लिए करते हैं। कुमार का अर्थ युवराज भी है। वे युवाशक्ति के प्रतीक भी हैं। उनका 'तारकारि' नाम उनकी दुष्ट-दमन की प्रवृत्ति का द्योतक है। क्रौंच नामक दैत्य का वध करने के कारण उनका नाम 'क्रौंचारि' भी है। असुर-संहार की योजना के अंतर्गत इन्होंने 'त्रिपाद', ह्रदोदर आदि अनेक दैत्यों को मौत के घाट पहुँचाया। वस्तुतः उनमें रुद्र और दुर्गा के आनुवंशिक संस्कार फलित हुए हैं। किन्तु साथ ही उनमें पूरक के रूप में शिवत्व के गुण भी अपनी पराकाष्ठा पर चरितार्थ हुए हैं। 'षडानन' के रूप में वे छहों शास्त्रों—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त—के ज्ञाता माने जाते हैं। वे पुराणों में सबसे बृहदाकार '*स्कन्दपुराण*' के मूल उपदेष्टा हैं। धनुर्वेद पर भी उनकी एक संहिता है, जो अब अनुपलब्ध है।

यद्यपि कार्तिकेय 'षडानन' कहे जाते हैं, तथापि सामान्यतः इनकी एक मुखवाली मूर्तियाँ ही पायी जाती हैं। एक मुख के अनुरूप उनकी भुजाएँ भी दो ही देखने में आती हैं। उनके 'द्विभुज' नाम से भी दो ही भुजाओं की पुष्टि होती है। वे बायें हाथ में शौर्य का प्रतीक धनुष-बाण धारण करते हैं तथा दायें हाथ अभय मुद्रा में सबको निर्भय और आश्वस्त रहने का आश्वासन देता है। इनका वाहन मयूर है, जिसके कारण वे 'मयूररथ' और 'मयूरवाहन' कहलाते हैं। मयूर आकृति से मनोरम और वाणी से मधुर है, किन्तु अपने शत्रु 'सर्प' के संहार में तनिक भी देरी नहीं

करता। साथ ही वह आत्मसंयम का परिचय देते हुए शिव के कण्ठ में लिपटे हुए सर्प को कुछ नहीं कहता और इस प्रकार पारिवारिक सद्भाव का प्रमाण प्रस्तुत करता है। कार्तिकेय के ध्वज में कुक्कुट (मुर्गा) का चिह्न अंकित है, जो ब्रह्ममुहूर्त में जागरण का उद्घोष करता रहता है। वाहन और ध्वजचिह्न—दोनों ही एक सजग सेनापति के लिए वाञ्छनीय सन्देश के संवाहक हैं।

यों तो समूचे भारत में कार्तिकेय की पूजा-अर्चना होती है तथा अनेक स्थानों पर उनके मन्दिर और तीर्थ भी विद्यमान हैं, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में उनकी मान्यता कहीं अधिक है। फलतः दक्षिण भारत में उनके मन्दिरों और तीर्थों की संख्या अधिक है। सच तो यह है कि उत्तर और दक्षिण भारत की सांस्कृतिक एकता के सूत्र को सुदृढ़ बनाने में गणेश जी को जितना श्रेय प्राप्त है, कार्तिकेय को उससे कम श्रेय प्राप्त नहीं है। दक्षिण भारत में कार्तिकेय ही इस दौड़ में कुछ आगे निकल जाते हैं। वहाँ कार्तिकेय को असीम सत्ताधारी ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है और उन्हें 'सुब्रह्मण्यम्' नाम से महिमामण्डित किया गया है। तमिल भाषा में असीम महिमा, अनन्त गौरव और दिव्यता के आशय को व्यक्त करने वाला शब्द है—'मुरुग'। अतः वहाँ सुब्रह्मण्यम् को 'मुरुगन' नाम से अभिहित किया जाता है। दक्षिण भारत के देवालयाँ में 'मुरुगन' अथवा 'सुब्रह्मण्यम्' की अर्चना-वन्दना अत्यन्त आत्मीय, पारिवारिक और हितैषी देवता के रूप में विशेष आस्था और भक्ति के साथ की जाती है। शिव, विष्णु आदि के प्रति भी दक्षिण भारतीयों की निष्ठा स्मृणीय है, किन्तु कार्तिकेय के प्रति उनका समर्पण भावोष्मा की विशेष तीव्रता लिये हुए है। दक्षिण भारत के कुछ उल्लेखनीय मन्दिर हैं—मल्लिकार्जुन मन्दिर (श्रीशैलम्), श्रीसुब्रह्मण्यम् (स्वामिमलै), श्रीसुब्रह्मण्यम मन्दिर (तिरुचैन्दूर), श्री सुब्रह्मण्यम् मन्दिर (पलणि), श्रीमुरुगन मन्दिर (मदुरा) आदि। दक्षिण भारत में मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी को 'स्कन्दषष्ठी' का पर्व विशेष उत्साह और उल्लास से मनाया जाता है।

कार्तिकेय के नाम पर अनेक तीर्थ भी पूरे भारत में मिलते हैं। उनके नाम पर 'गया' में एक प्रसिद्ध तीर्थ है, जिसका नाम है 'कार्तिकेय पद'। श्रद्धालु लोग अपने पितरों को शिव-लोक में सद्गति प्राप्त कराने की कामना से इस तीर्थ में कार्तिकेय की पूजा करते हैं और चढ़ावा चढ़ाते हैं।

'कार्तिकेय तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध एक अन्य तीर्थ है, जो 'गौतमी गंगा' के रूप में प्रख्यात गोदावरी नदी के तट पर स्थित है। इस तीर्थ के साथ एक बहुत ही

रोचक और सन्मार्गदर्शक पौराणिक प्रसंग जुड़ा है। 'तारक-वध' के महान् कारनामे से उल्लसित पार्वती ने कार्तिकेय को साधुवाद देते हुए उन्हें कुछ दिन तक आमोद-प्रमोद करने की अनुमति दे दी। उनका उद्देश्य पुत्र को प्रोत्साहित करना था। कार्तिकेय ने परिवार की मर्यादाओं का उल्लंघन करते हुए इस खुली छूट का दुरुपयोग करना प्रारम्भ किया और देवांगनाओं के साथ रमण करने लगे। जब पार्वती को वस्तुस्थिति का पता चला, तो वे सन्न रह गयीं। उन्होंने एक युक्ति सोची। उन्होंने समान साज-सज्जा धारण करके देवांगनाओं के साथ संचरण प्रारम्भ कर दिया। कार्तिकेय यह देखकर मन-ही-मन बहुत लज्जित हुए और फिर सब देवांगनाओं में माता पार्वती के ही दर्शन करने लगे। पिछले पाप से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने 'गौतमी गंगा' में स्नान किया। तब से यह स्थान 'कार्तिकेय तीर्थ' के नाम से विख्यात हो गया।

3. शिव-परिवार के पशु, पक्षी आदि सदस्य

भारत में वैदिक काल से ही प्रकृति और संस्कृति का भावनात्मक और आध्यात्मिक रिश्ता रहा है। यह रिश्तेदारी शिव-परिवार में प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ती है। शिव का गणराज्य हिमालय के प्राकृतिक परिवेश में व्याप्त रहा है। गिरिराज हिमालय रिश्ते में शिव के श्वसुर हैं और पर्वतराज की पुत्री पार्वती शिव की पत्नी हैं। हिमालय का ही एक प्रमुख शिखर कैलास शिव की राजधानी है। शिव ने गंगा और चन्द्रमा को क्रमशः शीश और मस्तक पर धारण कर रखा है। उन्होंने सर्प को अपने कण्ठ में हार की भाँति धारण कर रखा है। नन्दी वृषभ उनका वाहन है। दुर्ग की संरक्षिका दुर्गा ने सिंह को अपना वाहन बनाया है। गणेश ने चूहे-सरीखे चंचल और शरारती जन्तु को वाहन के रूप में अपनाकर उसके सुधार और उद्धार का द्वार खोल दिया है। उन्होंने हाथी-सरीखे बुद्धिमान, धीर-गम्भीर पशु के मुख और शीश को शिरोधार्य किया है और 'गजानन' रूप धारण करने में गौरव की अनुभूति की है। कार्तिकेय ने रम्य रूपवाले मधुरभाषी, धैर्यधर्मी, शत्रुहन्ता मयूर को अपने वाहन के रूप में अपनाया है। संक्षेप में, पूरा शिव-परिवार प्रकृतिमय और संस्कृतिमय है। यहाँ प्रकृति और संस्कृति में अभेद है।

शिव-परिवार के सम्माननीय सदस्य के रूप में सिंह, हाथी, वृषभ के रूप में पशु, मयूर के रूप में पक्षी, सर्प के रूप में सरीसृप अर्थात् सरकनेवाले जन्तु अपनी-अपनी मूल प्रकृति की विकृति पर विजय पाते हुए सांस्कृतिक जीवन का वह



शिव-परिवार

प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं, जिसकी कसौटी पर खरा उतरना मानव के लिए भी स्पृहणीय और वाञ्छनीय है। ये जीव-जन्तु मानव को मानवता का सन्मार्ग दिखलाने के लिए शिव-परिवार में एकत्र हुए हैं। ये सभी पारस्परिक प्रेम, मैत्री और सद्भावपूर्ण व्यवहार के उच्चादर्श का नमूना प्रस्तुत करते हैं। इनकी मूल प्रकृति पर ध्यान दिया जाये, तो इनमें सभी में पारस्परिक शत्रुता है। गणेश का वाहन चूहा है, जिसे देखते ही सर्प उस पर टूट पड़ता है और एक क्षण में निगल जाता है। किन्तु शिव-परिवार में दीक्षित, संस्कारी सर्प ऐसा क्रूर कार्य नहीं करता। इसी प्रकार साँप मोर का बहुत ही प्रिय भोजन है, किन्तु शिव-परिवार का मर्यादित मोर कभी सर्प का भक्षण नहीं करता। वह पारिवारिक संस्कारों का सम्मान करना श्रेयस्कर समझता है। वृषभ या बैल सिंह के लिए भोज्य पदार्थ है, किन्तु सिंह हिंसक वृत्ति से विमुख होकर वृषभ के साथ आत्मीयता का मधुर व्यवहार करता है और पारिवारिक प्रेम का अनूठा आदर्श प्रस्तुत करता है। यों तो अपने नैसर्गिक हिंस्र-रूप में सिंह अपने सभी साथियों का संहार कर सकता है और इसी प्रकार सर्प भी अपने सभी साथियों को चुपचाप डसने की क्षमता रखता है, किन्तु दोनों ही अपनी प्रकृतिगत विकृति पर संस्कृति की धवल ध्वजा फहराने में ही अपने जीवन की सच्ची सार्थकता समझते हैं। ये हिंसा, उग्रता, अत्याचार आदि दूषित मनोवृत्तियों के वशीभूत मानवरूपी दानवों को अपनी अंतर्निहित दिव्यता का दर्पण दिखाने में अपने जीवन की चरम सार्थकता समझते हैं।

शिवजी के पूरे परिवार और सम्पूर्ण गणराज्य की सर्वांगीण समुन्नति का रहस्य है समतामूलक, सर्वोदयी, सद्भावप्रेरित सकारात्मक जीवन-दृष्टि। यहाँ कुमति से उत्पन्न दुर्भावपूर्ण, नकारात्मक दृष्टि का कोई काम नहीं। यहाँ स्वार्थ, भेदभाव, विरोध, वैमनस्य का पूर्णतः अभाव है। इसलिए पूरे परिवार में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक के साथ भौतिक वैभव और सुख-समृद्धि के विकास का अनूठा उत्कर्ष देखने को मिलता है। प्रकृति ने आगे बढ़कर संस्कृति को आत्मसात् किया है, तो संस्कृति ने प्रकृति को अपने उत्थान और उत्कर्ष का वाहन बनाया है। मानव-जीवन में घटित प्रकृति और संस्कृति का यह गहन सम्बन्ध शिव-परिवार के उत्कर्ष की कुञ्जी है।



नौवाँ अध्याय कृष्ण, राम और हनुमान्

1. कृष्ण

‘कृ

ष्ण’ शब्द कृष् धातु से निर्मित है। इसका अर्थ है खींचना। इसी से विशेषण बनता है कृष्ण, अर्थात् खींचने या आकर्षित करनेवाला। कृष्ण का अन्य अर्थ काला या श्यामल भी है। इसीलिए कृष्ण को ‘श्याम’ या ‘श्यामसुन्दर’ भी कहा जाता है। अपने तन, मन और आचरण के अद्भुत आकर्षण के कारण ही कृष्ण भारत के धर्म, संस्कृति, इतिहास और भूगोल पर छाये हुए हैं। उनका बहुआयामी व्यक्तित्व अपने सभी रूपों में अनूप है। वे जितने तेजस्वी चक्रसुदर्शनधारी योद्धा हैं, उतने ही मनस्वी चिन्तक, ज्ञानी, योगीश और योगेश्वर हैं। वे देवराज इन्द्र का दम्भ चूर-चूर करनेवाले गोवर्धनधारी हैं, तो ग्वाल-बाल के साथ गोचारण करनेवाले तथा गोपियों के साथ रासलीला करनेवाले वृन्दावनबिहारी भी हैं। वे सामान्य ग्वाल-बाल या गोपाल भी हैं तथा एक नीति-कुशल, इतिहासपुरुष, महामानव भी हैं। इन सबसे ऊपर वे विष्णु के आठवें अवतार भी हैं और पूर्णपरात्पर ब्रह्म भी हैं। लीलाधर भगवान् कृष्ण की लीला सचमुच अपरम्पार है। उनमें मानव और मानवता का ही विराट् स्वरूप साकार हुआ है। उनमें सनातन धर्म की सनातनता के दिव्य रूप के दीदार होते हैं।

धर्म, संस्कृति और इतिहास के क्षेत्र में उनके योगदान पर विचार करने से पूर्व यहाँ उनका संक्षिप्त स्थूल परिचय प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि पुण्यभूमि भारत के अनेक भू-भागों से उनका गहरा नाता रहा है। व्रजभूमि से सम्बन्धित गोकुल, वृन्दावन, मथुरा के साथ ही हस्तिनापुर,



लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण

कुरुक्षेत्र, द्वारका से भी उनका भावनात्मक सम्बन्ध रहा है। उन्हीं के पावन संस्पर्श के कारण ये सभी स्थल देवभूमि भारत के पावन तीर्थ माने जाते हैं। श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में इतिहास और पुराण के साथ ही लौकिक और अलौकिक तत्त्वों का भी अनोखा सामञ्जस्य घटित हुआ है। इनके पिता वसुदेव मथुरा के ही एक प्रसिद्ध राजा शूरसेन यादव के पुत्र थे। इनकी माता देवकी मथुरानरेश कंस के पिता उग्रसेन के छोटे भाई देवकी की पुत्री थीं और इस प्रकार वे कंस की चचेरी बहिन थीं। कंस अत्यन्त दुराचारी राजा था। देवकी और वसुदेव के विवाह के समय आकाशवाणी हुई थी कि देवकी के आठवें गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह कंस का वध करेगा। अतः आशंकित कंस ने वसुदेव और देवकी को तत्काल कारागार में डाल दिया। अतः कारागार में ही भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को अर्द्धरात्रि के समय कृष्ण का जन्म हुआ। संयोगवश उसी समय ब्रज के ही गोकुल गाँव में वसुदेव के मित्र नन्द की पत्नी यशोदा ने पुत्री को जन्म दिया था। यह नवजात शिशु का ही अलौकिक प्रभाव था कि कारागार के द्वार अनायास खुल गये और पहरेदार गहन निद्रा में लीन हो गये। वसुदेव तत्काल शिशु कृष्ण को टोकरी में रखकर यमुना नदी पार करके गोकुल में यशोदा की बगल में रख आये। वे वहाँ से नवजात कन्या को ले आये और उसे देवकी को सौंप दिया।

कृष्ण का शैशव और बाल्यकाल गोकुल में ग्वाल-बाल, राधा तथा अन्य गोपियों के साथ अनेक सरस लीलाएँ करते हुए ब्रज-भूमि में ही व्यतीत हुआ। इसीलिए ब्रज-भूमि से इनकी गहरी आत्मीयता थी। इनके 'गोपाल', 'ब्रजविहारी', 'मुरलीधर', 'मुरलीमनोहर', 'राधावल्लभ', 'गोपीवल्लभ' आदि नाम इनके ब्रजवास का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी से जन्मे पुत्र बलराम भी इनके बड़े भाई थे तथा जन्म से ही इनके सहचर थे। कंस इन दोनों के दुःसाहसपूर्ण कारनामों की कथाएँ सुनकर मन-ही-मन इनसे आशंकित था। अतः वह अपने जीवन-पथ को निष्कण्टक बनाने के उद्देश्य से इन दोनों को ठिकाने लगाना चाहता था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उसने धनुर्यज्ञ के बहाने से एक वृद्ध यादव अक्रूर के माध्यम से इन्हें मथुरा आमन्त्रित किया। इस अवसर पर आयोजित मल्लयुद्ध में कृष्ण ने चाणूर नामक मल्ल को और बलराम ने मुष्टिक को पराजित किया तथा मौत के घाट उतार दिया। इतना ही नहीं, कृष्ण ने कंस का और बलराम ने कंस के आठों भाइयों का भी वध कर दिया। उन्होंने कंस के पिता उग्रसेन का वह राज्य भी उन्हें लौटा दिया, जो कंस ने उनसे बलपूर्वक हथिया लिया था।

इसके पश्चात् कृष्ण अपने माता-पिता के साथ मथुरा में ही रहने लगे। फिर कुछ समय पश्चात् उज्जयिनी जाकर वहाँ उन्होंने सान्दीपनि मुनि के शिष्यत्व में विद्या प्राप्त की। विद्याध्ययन के समय ही इनकी एक दरिद्र ब्राह्मण के पुत्र सुदामा से ऐसी प्रगाढ़ मित्रता हुई, जो जीवनपर्यंत चलती रही। विद्या-ग्रहण के उपरान्त कृष्ण ने पश्चिमी समुद्री तट पर द्वारका में यदुवंशियों के एक नये राज्य की स्थापना की और 'द्वारकाधीश' कहलाने का गौरव प्राप्त किया। इधर सुदामा की दरिद्रता पैर पसारती ही चली गयी। अपनी पत्नी के बार-बार आग्रह करने पर वह द्वारकाधीश के द्वार पर पहुँचे, तो कृष्ण ने अपने बाल-सखा के चरण धोकर आदर-सत्कार किया। अपार सत्कार पाकर खाली हाथ सुदामा लौटे तो, झोंपड़ी के स्थान पर भव्य महल के समक्ष अपनी प्रतीक्षातुर पत्नी को देखकर चकित रह गये। मित्रता के इतिहास में कृष्ण-सुदामा की मैत्री का यह नमूना अनुपम और अद्वितीय है।

शूरसेन की पुत्री तथा वसुदेव की बहिन कुन्ती का विवाह पाण्डु से हुआ था। अतः वे कृष्ण की फूफी थीं। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन नामक पाण्डव कृष्ण के फुफेरे भाई थे। कौरव-पाण्डवों की परम्परागत राजधानी हस्तिनापुर में, दोनों पक्षों में, सत्ता और सम्पत्ति को लेकर राजनीतिक द्वन्द्व छिड़ा हुआ था। कौरववंशीय धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने पाण्डवों को सूई की नोक के बराबर भूमि देने से भी इनकार कर दिया था। धृतराष्ट्र आँखों से तो अन्धे थे ही, उनके भीतर भी लोभ, मोह, मद का अन्धकार छाया हुआ था। उनकी पत्नी गान्धारी अन्धी नहीं थी, किन्तु वह आँखों पर पट्टी बाँधकर जान-बूझकर अन्धी बनी हुई थी। उन अन्धों के दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ पुत्र भी मद में अन्धे थे। ऐसी विषम स्थिति में पाण्डवों के हितों की रक्षा करना कृष्ण ने अपना धर्म समझा। जुए में हार जाने पर शर्त के अनुसार जब दुःशासन पाण्डव-पत्नी द्रौपदी का चीर हरण करने लगा, तो उसकी आर्त पुकार सुनकर कृष्ण ने तत्काल उसके चीर का विस्तार करके उसकी लाज बचायी। जब युद्ध की भूमिका तैयार हो रही थी, तब भी उन्होंने अपेक्षित तटस्थता बनाये रखी। उन्होंने युद्ध में शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की। उन्होंने स्वयं को पाण्डवों के पक्ष में रखा, किन्तु अपनी सारी सेना कौरव-पक्ष को सौंप दी।

मथुरा, गोकुल, वृन्दावन, द्वारका, हस्तिनापुर के पश्चात् उनका रिश्ता धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र से अनायास जुड़ गया, क्योंकि कौरव-पाण्डवों का युद्ध कुरुक्षेत्र के विस्तीर्ण क्षेत्र पर ही लड़ा गया। यहीं उन्होंने कौरवों के प्रति अपने भ्रातृत्व-भाव के निर्वाह के मिथ्या मोह में फँसकर अपने हाथ से गाण्डीव (धनुष) फेंकनेवाले

विषादग्रस्त, युद्धविमुख अर्जुन को क्षत्रिय-धर्म के सम्यक् निर्वाह का उद्बोधक सन्देश दिया था। उनका यह कर्म-बोध के रूप में धर्म-बोध करानेवाला सनातन सन्देश ही 'श्रीमद्भगवद्गीता' कहलाता है। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग की त्रिवेणी गीता में, विवेकपूर्वक, पूर्ण निष्ठा और भक्ति के साथ समर्पित और निष्काम भाव से सत्कर्म करना ही मानव-जीवन का उद्देश्य बताया गया है। यह सत्कर्म ही सच्चा धर्म है। सदाचार ही मानव की मानवता का सार है।

इस स्थूल परिचय के उपरान्त कृष्ण के व्यक्तित्व के ऐतिहासिक विकास-क्रम पर विचार करना भी प्रासंगिक होगा। वैदिक साहित्य में कृष्ण का उल्लेख एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में हुआ है। अतः वैदिक कृष्ण का *महाभारत*, *गीता* और *भागवतपुराण* के कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। हाँ, आगे चलकर *छान्दोग्योपनिषद्* के तीसरे अध्याय के सत्तरहवें खण्ड में घोर आंगिरस ऋषि के शिष्य देवकी-पुत्र कृष्ण का उल्लेख मिलता है। यहाँ घोर आंगिरस ऋषि अपने शिष्य कृष्ण को यज्ञ-दर्शन का पाठ पढ़ाते हैं। निश्चय ही इस यज्ञ-दर्शन में यज्ञ के उस परवर्ती कर्मकाण्डमूलक, भौतिक स्वरूप के प्रति विद्रोह की झलक मिलती है, जिसमें वैदिक युग के परम पावन यज्ञ का मूल स्वरूप तिरोहित हो गया था तथा उसका स्थान बलि-प्रथा और प्रचुर दक्षिणा पर केन्द्रित स्थूल यज्ञ ने ले लिया था। इसकी प्रतिक्रिया कुछ ही आगे चलकर जैन और बौद्ध धर्म के अहिंसा-आन्दोलनों में भी जमकर की गयी थी।

घोर आंगिरस ऋषि कृष्ण को लक्ष्य करके कहते हैं कि पुरुष (आत्मा) ही यज्ञ है। उनकी मान्यता है कि जब मनुष्य अपनी आत्मा को ही यज्ञ मान लेता है, तो वह अपने अक्षय और अच्युत स्वरूप को जान लेता है। फिर उसे अन्य (भौतिक) विद्याओं को जानने की तृष्णा नहीं रहती है। वह निःसंग और निष्काम हो जाता है। यह आत्मयज्ञ ही सच्चा यज्ञ है। आत्मयज्ञ के सूक्ष्म स्वरूप के अनुरूप इसमें दक्षिणा भी सूक्ष्म है। यहाँ दान, तप, सरलता, अहिंसा और सत्यवचन को ही यज्ञ की दक्षिणा बताया गया है। यही कृष्ण के ऐतिहासिक और वैचारिक विकास का प्रथम सोपान है।

कृष्ण के वैचारिक विकास का दूसरा सोपान प्रथम सोपान से ही विकसित हुआ है। दूसरा सोपान है गीताकार कृष्ण। यहाँ कृष्ण स्वयं गुरु की भूमिका में उतर आये हैं और अपने शिष्य अर्जुन को ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग की शिक्षा देते हैं। निश्चय ही उनके निष्काम कर्मयोग पर घोर आंगिरस ऋषि के निष्काम आत्मयज्ञ



गीताचार्य श्रीकृष्ण

के सन्देश का प्रभाव है। गीता (4.23) में कृष्ण निष्काम यज्ञ के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि निष्काम, मुक्त तथा परमात्मज्ञान में स्थित चित्तवाले यज्ञकर्ता के सब कर्म विलीन हो जाते हैं—

‘गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥’

गीता (4.28) में उन्होंने घोर आगिरस ऋषि के द्वारा बताये गये दक्षिणा के दान, तप, सरलता, अहिंसा, सत्यवचन नामक पाँच प्रकारों की भाँति यज्ञ के चार प्रकारों— द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ— का उल्लेख किया है। तप को तो उन्होंने ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया है। शेष को नये रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ ध्यातव्य है कि उन्होंने द्रव्य यज्ञ को भौतिक मानते हुए सबसे स्थूल माना है तथा सूक्ष्म यज्ञों में तप से सूक्ष्मतर योग को और सूक्ष्मतम ज्ञानयज्ञ को माना है।

गीता (10.37) में कृष्ण स्वयं को वृष्णिवंशियों में वासुदेव घोषित करते हैं। इससे स्पष्ट है कि छान्दोग्योपनिषद् के देवकीपुत्र और गीता के ‘वासुदेव’ कृष्ण एक ही हैं।

कृष्ण के स्वरूप-विकास का तीसरा सोपान है महाभारतीय कृष्ण। कृष्ण की भाँति ही महाभारत का रूप और आकार भी विकसनशील रहा है। इसीलिए महाभारत को विकसनशील महाकाव्य (Epic of Growth) कहा जाता है। कौरव-पाण्डव-युद्ध के पश्चात् ऋषि द्वैपायन व्यास ने लघुआकार के ‘जय’ काव्य की रचना की थी, जिसमें उनके शिष्य ऋषि वैशम्पायन ने कुछ कथाएँ और जोड़कर इसका नाम ‘भारत’ काव्य रख दिया। इसके पश्चात् उनके शिष्य उग्रश्रवा ‘सौति’ ने इसमें अन्य अनेक कथाएँ जोड़कर इसे ‘महाभारत’ नाम प्रदान किया। उग्रश्रवा सौति ऋषि रोमहर्षण सूतजी के पुत्र थे। डॉ॰ राधाकृष्णन (1888-1975) तथा अन्य विद्वानों के अनुसार गीता का सम्भावित रचना-काल 500 ई॰ पूर्व है। महाभारत की कथा और साथ ही कृष्ण को दार्शनिक आयाम देने के लिए गीता को भी महाभारत के भीष्मपर्व में सम्मिलित किया गया। विद्वानों का अनुमान है कि महाभारत के आकार का विस्तार ईसापूर्व दूसरी शती तक चलता रहा। स्पष्ट है कि इस प्रकार महाभारत के पराक्रमी, योद्धा, कूटनीतिज्ञ, महामानव कृष्ण को गीताकार, योगेश्वर, ब्रह्मज्ञानी और स्वयं परात्पर ब्रह्म में समन्वित करके, पूर्ण विकसित रूप में प्रस्तुत किया गया है।



विश्वरूप-दर्शन

यहाँ यह तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि *महाभारत* में कृष्ण का योद्धा, राजनीतिज्ञ और गीतेश्वर, परात्पर ब्रह्म का स्वरूप तो मिलता है, किन्तु उनके राधावल्लभ, गोपीवल्लभ, गोपाल, ब्रजबिहारी, माखनचोर, रासबिहारी रूप का *महाभारत* में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। स्पष्ट है कि कृष्ण के 'गोपाल-रूप' का विकास चतुर्थ सोपान की देन है, जिसे पौराणिक सोपान भी कहा जा सकता है। वस्तुतः कृष्ण लीलाधर होने के कारण प्रत्येक युग की समस्याओं के अनुरूप समाधान लेकर उपस्थित होते रहे हैं और इस प्रकार पूरे इतिहास पर छाये हुए हैं। पौराणिक सोपान का समारम्भ चौथी शती में रचित *विष्णुपुराण* से हुआ। *विष्णुपुराण* के पञ्चम अंश में विष्णु के अवतार के रूप में कृष्ण की लीलाओं का मनोहर चित्रण किया गया है। यहाँ गोपियों के साथ कृष्ण की रासलीला का भी वर्णन किया गया है। कृष्ण और गोपियों के परस्पर प्रेम की सात्विकता को ध्यान में रखते हुए *पद्मपुराण* के पातालखण्ड में कहा गया है कि ऋषियों ने ही गोपियों के रूप में जन्म लेकर कृष्ण के साथ रासलीला में भाग लिया। कृष्ण का यह गोपाल-रूप अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा *श्रीमद्भागवतपुराण* में, जिसकी रचना भक्तिकालीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन से पहले दसवीं शती के अन्तिम भाग में, दक्षिण भारत में हुई। *भागवत* में कृष्ण के योद्धा-रूप, योगेश्वर-रूप तथा गोपाल-रूप की समग्र एवं सम्पूर्ण झाँकी प्रस्तुत की गयी है, किन्तु इसकी महिमा का मूलाधार तो नवम से बारहवें स्कन्ध तक किया गया सम्मोहनकारी लीला-वर्णन ही है। उनकी लीलाएँ दो प्रकार की हैं— प्रेम-प्रसारक और असुर-संहारक। गोचारण-लीला, रासलीला, गोदोहन-लीला, माखन-चोरी आदि प्रेम-प्रसारक लीलाएँ हैं, तो शंखचूड़, अरिष्ट, बकासुर, केशी, वत्सासुर, धेनकासुर, आदि असुरों का संहार असुर-संहारक लीलाओं के उदाहरण हैं।

मध्यकाल में, जब अत्याचारी मुस्लिम शासक एक ओर तो तलवार के बल पर हिन्दुओं का धर्मांतरण कर रहे थे तथा दूसरी ओर उनके पिटू मुस्लिम सूफी फ़कीर माथे पर तिलक लगाकर, एक हाथ में माला और दूसरे में कमण्डलु लेकर प्रेम-पद्धति से हिन्दुओं को धर्मांतरित कर रहे थे, तब लीलाधर भगवान् की शरण में जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। संकट का समाधान असुर-संहारक और साथ ही प्रेम-प्रसारक, जनरञ्जनकारी कृष्ण में दिखलायी पड़ रहा था। दक्षिण भारत से वल्लभ, निम्बार्क, मध्व आदि आचार्य उत्तर भारत में हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए कृष्ण-भक्ति का सन्देश लेकर उपस्थित हुए। महाप्रभु वल्लभाचार्य (1479-1531) ने अपनी प्रसिद्ध रचना *कृष्णाश्रयस्तोत्र* में लिखा—

‘म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलनयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥’

अर्थात्, ‘देश के विभिन्न क्षेत्रों पर म्लेच्छों (मुस्लिमों) के आक्रमण हो रहे हैं, स्थान-स्थान पर पाप के अड्डे हैं, लोग सज्जनों के उत्पीड़न से व्याकुल हैं, ऐसी दुर्दशा में एकमात्र कृष्ण ही मेरे शरणदाता हैं ।’

वल्लभाचार्य के शिष्य सूरदास (1478-1573), कुम्भनदास, नन्ददास आदि हिन्दी-कवियों ने कृष्णलीलाओं को आधार बनाकर रचनाएँ कीं। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है *सूरसागर*। मुस्लिम-शासकों के क्रूर शासन की प्रतिक्रिया में सूरदास ने जननायक कृष्ण और जनरानी राधा की समरसतापूर्ण, समतावादी, कुण्ठामुक्त, वैकुण्ठी, जनतान्त्रिक शासन-व्यवस्था का अनूठा आदर्श प्रस्तुत करते हुए लिखा—

‘जननायक जगदीस पियारो, जगतजननि जनरानी ।

नित बिहार गोपाल बाल संग वृन्दावन रजधानी ॥’

कृष्ण और राधा के राज में खान-पान, जाति-पाति, ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं है। यहाँ जननायक और जनरानी भी जनता के ही अभिन्न अंग हैं और सब मिलकर प्रेमपूर्वक रहते हैं।

असुर-संहारक कृष्ण की भक्ति ने भक्तों में अपार शक्ति का संचार किया और उन्हें निर्भीक और निर्द्वन्द्व बना दिया। जब मुगल-सम्राट् अकबर ने कृष्णभक्त कुम्भनदास के पास सन्देश भिजवाया कि वे फतहपुर सीकरी के दरबार में पधारें, तो कुम्भनदास ने निर्भीकता के साथ टके-सा जवाब थमाते हुए अकबर को लिखकर भेजा—

‘सन्तन कहा सीकरी सों काम !

आवत-जात उपन्हियाँ टूटत, हिय बिसरै हरि नाम ॥

जिनको मुख देखे दुख उपजै, तिन्ह को करनी परै सलाम ॥’

अर्थात्, ‘सन्तों को फतेहपुर सीकरी से क्या काम है? आते-जाते पैरों की जूतियाँ टूटती हैं तथा हृदय से प्रभु का नाम विस्मृत होता है। (सबसे बड़ी मुसीबत यह कि) जिनका मुख देखते ही मन में दुःख पैदा होता है, उनको सलाम करनी पड़ती है।’

कृष्ण और राधा की महामहिमा का बोध इसी से होता है कि भारत में सर्वत्र राधा-कृष्ण के भव्य मन्दिर मिलते हैं। भागवत-पाठ और गीता-पाठ की

परम्परा पूरे देश में है। जन्माष्टमी का पर्व पूरे देश में पूर्ण उत्साह के साथ मनाया जाता है। मथुरा-वृन्दावन में तो कृष्ण की पूजा-उपासना के प्रमुखतम केन्द्र हैं। द्वारका, कुरुक्षेत्र भी कृष्ण-पूजा के प्रमुख तीर्थ हैं।

भगवान् कृष्ण सनातन हिंदू-धर्म के सनातन रक्षक और पोषक हैं। अतः वे धर्म की रक्षा और अधर्म के विनाश के लिए युग-युग में अवतरित होते हैं। अपनी इस युगयुगीन महती प्रासंगिकता पर प्रकाश डालते हुए वे *गीता* (4.7-8) में कहते हैं—

‘यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दृष्टकृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥’

2. राम

‘राम’ शब्द रम् धातु से निर्मित है। इसका अर्थ है रमना या रमाना। जो सर्वशक्तिमान् होने के कारण सृष्टि के रोम-रोम में रमा है, वह राम है। साथ ही जो अपनी रमाने की शक्ति या रम्यता (रमणीयता) के कारण जन-जन के मन को रमाता या आकर्षित करता है, वह राम है। कृष्ण की भाँति राम का एक अन्य अर्थ है श्याम या श्यामल। महाकवि तुलसीदास ने राम को नीलकमल के समान श्यामल और कोमल बताया है— **‘नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गम्’**। राम की यह मनोरमता शारीरिक ही नहीं है। वे तन, मन और आचरण के समग्र सौन्दर्य से सम्पन्न हैं। शील, शक्ति और सौन्दर्य के संगम के रूप में वे परम प्रतापी मर्यादापुरुषोत्तम हैं। उनकी रम्यता लौकिक भव्यता की सीमाएँ लाँघकर अलौकिक दिव्यता में परिणत हो जाती है। तभी तो वे विष्णु के सातवें अवतार माने जाते हैं। किन्तु वे विष्णु के विष्णुत्व से भी आगे निकल जाते हैं। वे अपने संकेत मात्र से ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी नचाते हैं, **‘बिधि हरि संभु नचावनिहारे’** (*श्रीरामचरितमानस*, अयोध्याकाण्ड, 126.1)। महाकवि तुलसीदास के अनुसार तो विष्णु के सभी अवतार वास्तव में विष्णु के नहीं, राम के ही अवतार थे। इसीलिए विष्णु, शिव, ब्रह्मा राम की स्तुति करते दिखाये गये हैं। वास्तव में, वे राम तो अखिल सृष्टि के निर्माता और नियन्ता हैं। तभी तो उनके अंशमात्र से अनेक ब्रह्मा, विष्णु, महेश उत्पन्न होते हैं— **‘संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना, उपजहिं जासु अंस तेनाना’** (*वही*, बालकाण्ड, 143.3)। इस प्रकार



मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम

पुरुष से लेकर परमात्मा तक श्रीराम की महिमा व्याप्त है। भक्त के हृदय में निर्गुण राम, नेत्रों में सगुण राम तथा जिह्वा पर राम का नाम सदैव विराजमान रहता है—
‘हिय निर्गुन, नयनहिं-सगुन, रसना राम सुनाम’।

राम के व्यक्तित्व की सामाजिक-सांस्कृतिक उपलब्धियों पर विचार करने से पूर्व, यहाँ संक्षेप में उनके लीलामय जीवन के उन व्यावहारिक पक्षों पर प्रकाश डालना उपयोगी होगा, जो उनके जीवन में रोचक, नाटकीय मोड़ उपस्थित करते हैं और उनके जीवनचरित को इतना लीलामय बनाते हैं तथा जिनके कारण रामलीला भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख अंग बन गयी है और विदेशों में भी लोकप्रिय है। इण्डोनेशिया की रामलीला तो यहाँ वर्षों तक दूरदर्शन पर दिखायी जाती रही है।

राम अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा दशरथ के पुत्र थे। दशरथ की कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी नामक तीन पत्नियाँ थीं। कौशल्या से राम का, कैकेयी से भरत का तथा सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म हुआ। गुरु वसिष्ठ ने चारों राजकुमारों को सुशिक्षित किया। जब इन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया ही था कि सहसा मुनि विश्वामित्र असुरों से अपने आश्रम की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को महाराजा दशरथ से माँगकर ले गये। वहाँ उन्होंने धनुर्विद्या सीखी तथा ताड़का राक्षसी और सुबाहु राक्षस का वध करके अपने पराक्रमी, असुर-संहारक स्वरूप का प्रमाण प्रस्तुत किया।

जब मिथिला के राजा जनक की पुत्री सीता के स्वयंवर के उपलक्ष्य में धनुर्यज्ञ का आयोजन किया गया, तो आमन्त्रण पाकर मुनि विश्वामित्र दोनों राजकुमारों को लेकर मिथिला गये। रावण आदि बड़े-बड़े योद्धाओं के विफल रहने पर, मुनि विश्वामित्र का आदेश पाते ही राम उठे और मामूली प्रयास से ही प्रत्यञ्चा चढ़ाकर धनुष को खण्ड-खण्ड कर दिया। धनुष-भंग की ध्वनि सुनते ही जंगल से क्रोधातुर परशुराम आ धमके और लम्बे वाद-विवाद के पश्चात्, शंका-निवारण के लिए अपना शिव-धनुष राम को थमा दिया, जिसे उन्होंने अनायास खण्डित कर दिया। परशुराम राम की प्रभुता की वन्दना करते हुए वन की ओर प्रस्थान कर गये। आमन्त्रण पाकर दशरथ भरत और शत्रुघ्न के साथ बारात लेकर मिथिला पहुँचे तथा राम का सीता से, लक्ष्मण का उर्मिला से, भरत का माण्डवी से और शत्रुघ्न का श्रुतकीर्ति से विवाह सम्पन्न हुआ। यह समग्र प्रसंग राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य का संयुक्त चित्र प्रस्तुत करता है।

महाराजा दशरथ ने ज्येष्ठ पुत्र के रूप में राम को अपना उत्तराधिकारी



धनुर्भंग

मानते हुए उनके राज्याभिषेक की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं। किन्तु तभी कुटिल मंथरा दासी के बहकावे में आकर भरत की माता कैकेयी ने महाराजा दशरथ से राम को वनवास और भरत को राजगद्दी देने के दो वर माँग लिये। दशरथ वचनबद्ध होने के कारण विवश थे। फलतः पिता की आज्ञा पाते ही एक समत्वयोगी की भाँति राम गैरिक परिधान धारण करके वनवास के लिए चल दिये। उनके साथ उनकी पत्नी सीता और अनुज लक्ष्मण भी चल पड़े। जब भरत और शत्रुघ्न ननिहाल से लौटे, तो भरत ने सिंहासन पर आसीन होना अस्वीकार कर दिया और तीनों माताओं तथा अयोध्यावासियों के साथ राम को लौटाने के लिए चित्रकूट पहुँच गये। चित्रकूट की सभा में दो त्यागमूर्ति भ्राताओं के भावपूर्ण उद्गार मानव-महिमा का अनूठा उदाहरण माने जाते हैं। मर्यादा-मूर्ति राम ने पिता की आज्ञा के पालन को ही परम पुत्र-धर्म घोषित करते हुए चौदह वर्ष के वनवास की अवधि पूर्ण करके ही लौटने के सम्बन्ध में आश्वस्त करके भरत को सस्नेह समझा-बुझाकर घर लौटा दिया। तपोव्रतधारी भरत ने भी राम की चरणपादुकाएँ सिंहासन पर रख दीं और नगर के बाहर एक कुटीर में निवास करते हुए राज-काज का संचालन करने लगे। प्रस्तुत प्रसंग भ्रातृत्व-भक्ति, सत्ता-परित्याग और निष्काम कर्मयोग का दिव्य दृष्टान्त कहा जा सकता है।

चित्रकूट के पश्चात् राम अनेक ऋषि-मुनियों के आश्रमों में होते हुए पञ्चवटी पहुँचे और वहाँ कुटीर बनाकर रहने लगे। एक दिन लंकापति रावण की बहिन शूर्पणखा राम से प्रणय-निवेदन करने लगी और सीता जी को अपशब्द कहने लगी। इस पर कुपित होकर लक्ष्मण ने उसकी नाक काट ली। शूर्पणखा की गुहार पर उसके भाई खर और दूषण अपमान के प्रतिकारार्थ सेना-सहित टूट पड़े और युद्ध में मारे गये। तब शूर्पणखा ने रावण से अपनी व्यथा कही। प्रतिकार की भावना से रावण ने सीता के अपहरण की योजना बनायी। रावण के आगमन से पूर्व ही, जब लक्ष्मण कन्द-मूल-फल लेने वन में गये हुए थे, राम ने सारी स्थिति को परखकर सीता को अग्नि-माता को सौंप दिया और उनसे कहा कि “जब तक मैं राक्षसों का संहार करूँ, तुम अग्नि में ही निवास करो” — ‘तुम्हें पावक महुँ करहु निवासा, जों लगी करौं निसाचर नासा’ (श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, 23.1)। सीता ने अपने स्थान पर अपना माया-रूप प्रतिबिम्ब प्रस्तुत कर दिया। तभी मायावी राक्षस मारीच कंचन-मृग बनकर कुटीर के चक्कर काटने लगा। सुन्दर मृग-चर्म की चाह में सीता के हठ करने पर राम मृग के वध के लिए दौड़े। कुछ दूर जाते ही छली मारीच राम की



अग्निदेव को सीता-समर्पण

आवाज़ में चीखा— ‘हा लक्ष्मण !’ इस पर सीता के आग्रह से विवश लक्ष्मण को भी जाना पड़ा। अवसर पाकर साधुवेशधारी रावण माया-सीता के अपहरण में सफल रहा।

सीता की खोज में निकले राम-लक्ष्मण की सर्वप्रथम भेंट गीध-राज जटायु से हुई, जो रावण के विमान में विलाप करती हुई सीता की मुक्ति के लिए रावण पर टूट पड़ा था तथा रावण की तलवार के प्रहारों से आहत होकर पृथिवी पर पड़ा हुआ तड़प रहा था। उसी से ज्ञात हुआ कि सीता को हरकर रावण लंका ले गया है। राम ने जैसे ही उसके उपकार पर कृतज्ञता ज्ञापित की, तभी जटायु गीध-देह त्यागकर विष्णु-रूप धारण करके राम के निर्गुण-सगुण स्वरूप की स्तुति करने लगा— ‘**जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही**’ (वही, अरण्यकाण्ड, 31.1)। राम की भक्ति का वर माँगकर गीधराज जटायु राम-धाम को विदा हुआ। राम ने श्रद्धापूर्वक उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया अपने हाथों से की। जटायु को सद्गति प्रदान करके राम-लक्ष्मण आगे बढ़े, तो उनकी भेंट हनुमान् से तथा उनके माध्यम से वानरराज सुग्रीव से हुई, जो पत्नी और राज्य हड़पनेवाले अपने दुराचारी भाई बालि के भय से किष्किन्धा पर्वत पर रहता था। राम ने बालि का वध करके तत्काल सुग्रीव की समस्याओं का समाधान किया और एक सन्मित्र का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया।

मैत्री का निर्वाह करते हुए सुग्रीव ने सीता की खोज में वानर-दल भेजा। हनुमान् छलाँग लगाकर लंका में, अशोक वाटिका में सीता के पास पहुँचे और पहचान के रूप में राम की मुद्रिका उन्हें सौंपी। वाटिका के फल तोड़ने पर हनुमान का रक्षकों से विवाद हो गया और रक्षकों के साथ रावण-पुत्र अक्षयकुमार भी मारा गया। रावण का प्रतापी पुत्र मेघनाद उन्हें बन्दी बनाकर रावण के समक्ष ले गया। रावण ने हनुमान् की पूँछ में रूई लिपटवाकर आग लगवा दी। पवनपुत्र ने अवसर का लाभ उठाते हुए सारी लंका में ही आग लगा दी और लौटकर सारी सूचनाएँ दे दीं। राम ने बालि-पुत्र अंगद के माध्यम से रावण से सीता को ससम्मान लौटाने का अनुरोध किया, किन्तु दुष्ट रावण ने उलटे युद्ध की चुनौती दे डाली। फलतः नल और नील नामक शिल्पी वानरों के द्वारा निर्मित सेतु के माध्यम से महासागर पार करके राम ने लंका पर चढ़ाई कर दी। रावण द्वारा अपमानित उसका भाई विभीषण भी राम से आ मिला। भीषण युद्ध में मेघनाद के शक्ति-वाण से आहत लक्ष्मण मूर्च्छित हो गये। राम की व्यथा पराकाष्ठा पर थी। स्वामिभक्त हनुमान् तत्काल हिमालय से

संजीवनी बूटी लाये और लक्ष्मण को मूर्च्छा से मुक्त किया। अन्त में, राम-रावण युद्ध में रावण वीरगति को प्राप्त हुआ। राम ने उसकी वैर-भाव की भक्ति को सम्मान देते हुए उसका आदरसहित अन्त्येष्टि-संस्कार किया। उन्होंने पूर्ण निष्काम भाव से उसका राज्य विभीषण को सौंप दिया। तभी अग्निपरीक्षा के बहाने सीता ने राम के कहने पर अपने माया-रूप (प्रतिबिम्ब) और कलंक से मुक्ति पाने के लिए स्वयं को अग्नि को सौंप दिया। अग्निदेव ने हाथ पकड़कर सचमुच की श्री (सीता) को राम को ऐसे ही सौंप दिया, जैसे क्षीरसागर ने लक्ष्मी जी को विष्णु को सौंप दिया था—

**‘धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जगविदित जो,
जिमि क्षीर सागर इंदिरा रामहि समर्पी आनि सो ॥’**

—वही, लंकाकाण्ड, 108.2.1

पुष्पक विमान में राम, हनुमान्, सीता अयोध्या पहुँचे। वहाँ दीपोत्सव के साथ उनका स्वागत हुआ। तभी उनका राज्याभिषेक भी हुआ। श्रीरामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में आदर्श रामराज्य के वर्णन के साथ ही उल्लेख है कि सीता से लव और कुश नामक दो पुत्र हुए, जो गुणों में राम के ही प्रतिबिम्ब प्रतीत होते थे—

**‘दुई सुत सुंदर सीता जाए । लव कुस बेद पुरान्ह गाए ।
दोउ विजई विनई गुन मंदिर । हरि प्रतिबिंब मनहु अति सुन्दर ॥’**

—वही, उत्तरकाण्ड, 24.3

यहाँ पर यह उल्लेखनीय तथ्य है कि मूलतः वाल्मीकीयरामायण की रामकथा भी रावण पर राम की विजय और रामराज्य की स्थापना पर ही समाप्त होती है। रामकथा के प्रमुखतम अध्येता और शोधक डॉ. फ़ादर कामिल बुल्के (1909-1982) के अनुसार ‘वाल्मीकीयरामायण में बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड बाद में जोड़े गये हैं। अतः सीता-वनवास की कथा पूर्णतः प्रक्षिप्त है। वाल्मीकि के राम मूलतः महापुरुष हैं, शरीरधारी धर्म हैं। वे महामानव हैं, किन्तु अवतार या कोई अलौकिक सत्ता नहीं। उन्हें अवतार घोषित करनेवाले प्रसंग वाल्मीकीयरामायण के बालकाण्ड में हैं, जो निश्चय ही प्रक्षिप्त है।’ तुलसीदास ने भी सीता-वनवास के प्रसंग को हटा दिया है।’

तुलसी के राम दार्शनिक दृष्टि से परात्पर ब्रह्म या निर्गुण सत्ता हैं, किन्तु वे धर्म के विनाश और अधर्म के विकास की स्थिति में दुर्जनों के विनाश और सज्जनों की रक्षा के लिए मानव के आकार में अवतार लेते हैं। मानव-रूप में मानव और

मानवता का अमंगल दूर करना तथा मंगल-विधान करना तुलसी के मर्यादापुरुषोत्तम राम के जीवन का मूल लक्ष्य है। इसीलिए तुलसी ने उन्हें ‘मंगल भवन अमंगल हारी’ (वही, बालकाण्ड, 9.1) कहा है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए धर्म-ध्वजाधारी राम ने पृथिवी को राक्षसविहीन करने का प्रण किया और ऋषि-मुनियों के आश्रमों में जाकर उन्हें आनन्द-मंगल प्रदान किया—

**‘निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।
सकल मुनिन के आश्रमहिं जाइ जाइ सुख दीन ॥’**

—वही, अरण्यकाण्ड, 9

राक्षसों के प्रति राम के कोप के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए पवनपुत्र हनुमान् रावण को सचेत करते हुए कहते हैं— ‘मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि हज़ारों शंकर, विष्णु और ब्रह्मा भी राम से द्रोह करनेवाले तुमको बचा नहीं सकते—

‘संकर सहस विष्णु अज तोही । सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥’

—वही, सुन्दरकाण्ड, 22.8

राम का स्वातन्त्र्य-दर्शन दर्शनीय है। तुलसी ने राम, रामभक्त और रामभक्ति को स्वतन्त्र घोषित किया है। ‘भक्ति सुतंत्र सकल गुन खानी’ (वही, उत्तरकाण्ड, 44.3) के अनुसार भक्ति स्वातन्त्र्य-बोध का मूलाधार है। राम की भक्ति से भक्त निर्भीक, निर्लिप्त, स्वावलम्बी और निश्चिन्त हो जाता है— ‘कौन की त्रास करै तुलसी, जो पै राखिहै राम तो मारिहै को रे’। जब मुग़ल-सम्राट् अकबर ने दरबार की ओर से गोस्वामी तुलसीदास को मनसबदारी का प्रलोभन देकर अपने दरबार में पधारने का आमन्त्रण भिजवाया, तो तुलसीदास ने निर्भीक, निर्लिप्त और मुक्त भाव से उत्तर भिजवाया—

**‘हम चाकर रघुवीर के, कनक जरौ दरबार ।
अब तुलसी का होहिंगे, नर के मनसबदार ॥’**

स्वातन्त्र्य-बोध के साथ ही राम का विश्वविजेता रूप जुड़ा हुआ है। जब रावण पर विजय पाकर राम राज-काज सँभालते हैं, तो सारी प्रजा आनन्दित होकर कहती है— ‘राम राज भयो, काज सगुन सुभ, राजा राम जगत बिजई है’। राम में ग़ज़ब का सन्तुलन है। वे जितने महान् विजेता हैं, उतने ही विनीत, न्यायकारी, सुनीति-पालक भी हैं। यद्यपि वे राजा हैं और उनकी शासन-पद्धति

राजतन्त्रीय है, तथापि उनकी विनम्रता और न्याय-नीति के कारण वह जनतन्त्र का आदर्श नमूना प्रस्तुत करती है। तभी तो राजा रामचन्द्र आदर्श जननायक के रूप में अपनी प्रजा को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करते हुए घोषित करते हैं—

‘नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई । सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई ।
जो अनीति कछु भाखों भाई । तो मोहि बरजहु भय बिसराई ॥’

—वही, उत्तरकाण्ड, 42.2

भारतीय वेदान्तदर्शन के अनुरूप राम की जीवन-दृष्टि अभेदमूलक है। वे अपने भक्तों में वर्ण, जाति आदि का कोई भेद-भाव नहीं करते। इसीलिए अयोध्या में सरयू के राजघाट पर चारों वर्णों के लोग मुक्त रूप में स्नान करते हैं— ‘राजघाट सब विधि सुंदर बर । मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर’ (वही, उत्तरकाण्ड, 28.2) केवट-प्रेम, निषाद-राज गुह के प्रति प्रेम, शबरी-मिलन आदि प्रसंगों में निम्न माने जानेवाले व्यक्तियों के प्रति उनकी समता और ममता की गहन अनुभूति देखते ही बनती है। पूरे जीवन में नवधा भक्ति का सन्देश उन्होंने अधम जाति की शबरी को देने में ही परम तृप्ति का अनुभव किया। राम काकभुशुण्डि की गहन आस्था पर रीझकर उसे अपनी भक्ति का वरदान देते हुए कहते हैं— ‘भगतिवंत अति नीचउ प्राणी, मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी’ (वही, उत्तरकाण्ड, 85.5)।

राम अपने भक्त को स्नेह ही नहीं, सम्मान भी देते हैं। भरत उनके भ्रातृत्व-भाव के भक्त हैं, अतः राम के लिए वे केवल स्नेहपात्र ही नहीं हैं, वरन् पूज्य और उपास्य बन गये हैं। भरत के समान राम का अन्य कौन प्रिय हो सकता है? यह गौरव तो भरत को ही प्राप्त है। सारा जगत् तो राम की भक्ति करता है, किन्तु स्वयं राम भरत की भक्ति करते हैं—

‘भरत सरिस को राम सनेही । जग जपु राम, राम जपु जेही ॥’

—वही, अयोध्याकाण्ड, 217.4

तुलसी ने राम की परिभाषा की है— ‘मंगल भवन अमंगल हारी’। यही परिभाषा उन्होंने *विनयपत्रिका* (पद 46) में रामभक्त हनुमान् की की है— ‘मंगलमूर्ति मारुत नंदन । सकल अमंगल मूल निकन्दन’। स्पष्ट है कि तुलसी के राम और रामभक्त में स्वभाव और प्रभाव की एकता है। तुलसी भक्त को भी भगवत्स्वरूप बनाने में भक्ति की चरम सार्थकता मानते हैं। *श्रीरामचरितमानस* के उत्तरकाण्ड (119.8) में रामभक्त काकभुशुण्डि गरुड़ को रामभक्ति की सुगमता का

रहस्य बताते हुए कहते हैं कि ज्ञान, वैराग्य, सुमति, सद्भावना से सच्चा राम-सेवक ही राम-भक्ति-रूपी मणि को खोजता है। यदि राम चन्दन हैं, तो उनकी सुगन्धि को भक्ति द्वारा फैलानेवाला भक्त ही है। यदि भक्त न हों, तो भक्ति और भगवान् दुर्गम ही रह जायें। इस आधार पर वे रामभक्त को राम से भी बढ़कर मानते हैं— ‘मोरे मन प्रभु अस विस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा’। कुल मिलाकर, मर्यादापुरुषोत्तम राम की भक्ति का मूल उद्देश्य तो मानव और लोक का कल्याण ही है। राम की समूची अलौकिकता लौकिकता पर न्यौछावर है।

राम के सगुण स्वरूप का स्तवन करते हुए तुलसी ने लिखा है—

‘नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।

पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥’

—*श्रीरामचरितमानस*, अयोध्याकाण्ड, 3

अर्थात्, ‘नीले कमल के समान जिनके अंग हैं, सीता जी जिनके वाम भाग में विराजमान हैं और जिनके हाथों में अमोघ बाण तथा सुन्दर धनुष है, उन रघुवंश के स्वामी रामचन्द्र जी को मैं नमस्कार करता हूँ।’

3. हनुमान्

धर्म-साधना और भक्ति के इतिहास में हनुमान् ही एक ऐसे उदाहरण हैं, जो पूरे समर्पित भाव से अपने उपास्य की भक्ति करते-करते नितान्त नैसर्गिक रूप से भक्त से भगवान् बने हों। उन्होंने पूरे जीवन में राम के किंकर या सेवक बने रहने के अतिरिक्त कभी किसी यश या महत्ता की कामना नहीं की। उन्होंने सचमुच निष्काम सेवा का अनुपम दृष्टान्त प्रस्तुत किया। ‘महावीर’, ‘पवनपुत्र’, ‘वज्रांगवली’, ‘केसरीनन्दन’, ‘आञ्जनेय’, ‘रामकिंकर’, ‘संकटमोचन’ आदि नामों से विभूषित हनुमान् शक्ति, सेवा, पराक्रम, विवेक और विश्वास के पुञ्ज होने के कारण संस्कृति-पुरुष के रूप में विख्यात हैं। अपनी आकृति और प्रकृति की विशिष्टता के कारण उनका व्यक्तित्व विशेष सम्मोहक और वन्दनीय बन गया है। पूरे भारत में गली-गली में उनके मन्दिर विद्यमान हैं। इतनी पूजा-उपासना कदाचित् ही किसी अन्य देवी-देवता की होती हो! राम-मन्दिरों में तो इनकी प्रतिमा एक स्वामिभक्त सेवक के रूप में सर्वत्र शोभित होती ही हैं, किन्तु उनके स्वतन्त्र मन्दिरों की संख्या भी समूची देव-सृष्टि में किसी से कम नहीं है। उनकी गुण-गाथा से सम्बन्धित ‘सुन्दरकाण्ड’, ‘हनुमान चालीसा’, ‘हनुमान बाहुक’, ‘बजरंगबाण’ आदि तुलसीकृत रचनाओं का पाठ घर-घर में जितना प्रचलित



श्रीरामभक्त-शिरोमणि श्रीहनुमान्

है, उतना किसी अन्य रचना का नहीं।

वैदिक साहित्य में कहीं भी हनुमान का नाम नहीं मिलता। हनुमान का प्रथम बार उल्लेख *वाल्मीकीयरामायण* में ही हुआ है। डॉ. फ़ादर कामिल बुल्के के अनुसार 'हनुमान्' शब्द सम्भवतः द्रविड़ भाषा के एक शब्द का संस्कृत-अनुवाद है, जिसका अर्थ है 'नरकपि'। 'वानर' शब्द का भी अर्थ इससे मिलता-जुलता है— 'विकल्पेन नरः' अर्थात् जो नर भी हो और साथ ही वानर भी। डॉ. बुल्के के अनुसार विन्ध्य प्रदेश और मध्य भारत में वानर, ऋक्ष (रीझ), गीध (गिद्ध), राक्षस नाम की आदिवासी प्रजातियाँ निवास करती थीं। इन जातियों का रामकथा से सम्बन्ध था। ये सभी मानवाकार आदिवासी थे और मानव की ही भाषा बोलते थे। अर्द्धनग्न गीधिये तो अब भी आदिवासी क्षेत्रों में पाये जाते हैं, जो अनपढ़ता के कारण सभ्यता से वंचित ही रह गये। इनके साथ पूँछ, पंख जोड़ना तो पौराणिक प्रवृत्ति की देन है, जो इन्हें मानवेतर वैशिष्ट्य से युक्त करती है। भले ही वैदिक साहित्य में उनका उल्लेख न मिलता हो, तथापि *वाल्मीकीयरामायण*, *महाभारत*, अनेक पुराणों और *श्रीरामचरितमानस* में उनकी महिमा का विस्तार से उल्लेख हुआ है।

पौराणिक तत्त्वों की प्रमुखता के कारण हनुमान् जी का व्यक्तित्व विशेष आकर्षक बन गया है। पौराणिक कथा के अनुसार हनुमान् की माता का नाम अञ्जना या अञ्जनी था। कथाओं में ये दोनों ही नाम मिलते हैं। पवनपुत्र के 'अञ्जनीकुमार' नाम से तो माता का सही नाम 'अञ्जनी' ही प्रतीत होता है। अपने पूर्व जीवन में अञ्जनी एक अत्यन्त सुन्दर अप्सरा थी, जिसका नाम था पुञ्जिकस्थली। इन्द्र की सभा में नृत्य करती हुई पुञ्जिकस्थली के हाव-भाव में दुर्वासा ऋषि को चञ्चलता का आभास हुआ। अतः खीझकर दुर्वासा ने उसे अगले जन्म में वानरी होने का शाप दिया। अतः वह अगले जन्म में कुञ्जर नामक प्रमुख वानर की पुत्री अञ्जनी (सुन्दरी) के रूप में उत्पन्न हुई तथा उसका विवाह एक सुयोग्य एवं पराक्रमी वानर केसरी के साथ सम्पन्न हुआ। केसरी ने पवनदेव और रुद्र (शिव) की स्तुति की, जिससे अञ्जनी के जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम पवनपुत्र रखा गया। एक दिन माता-पिता की अनुपस्थिति में बालक पवनपुत्र को भूख लगी, तो उसने उदीयमान सूर्य को ही सुन्दर फल समझकर आकाश में छलौंग लगायी और उसे लीलने का प्रयास किया। बालक का यह दुःसाहस देखकर इन्द्र ने उस पर वज्र से प्रहार किया, जिससे पवनपुत्र की ठोड़ी (हनु) बायीं ओर से थोड़ी टेढ़ी हो गयी। तभी

से महाबली पवनपुत्र का नाम 'हनुमान्' प्रचलित हो गया। अञ्जनी (सुन्दरी) के सुपुत्र होने के कारण इनका एक नाम 'सुन्दर' भी था। 'हनुमत्पुराण' से भी इनके 'सुन्दर' नाम की पुष्टि होती है। किन्तु यह नाम *हनुमत्पुराण* से बहुत पहले महर्षि वाल्मीकि को ज्ञात था। तभी तो उन्होंने 'रामायण' की रचना करते हुए एक विशिष्ट काण्ड के कथानायक को ध्यान में रखकर उस काण्ड का नाम 'सुन्दरकाण्ड' रखा। बाद में तुलसीदास ने भी उसका अनुसरण करते हुए *श्रीरामचरितमानस* के पाँचवें काण्ड का नाम 'सुन्दरकाण्ड' रखा। उन्होंने 'सुन्दरकाण्ड' के प्रारम्भ में राम की स्तुति के पश्चात् प्रस्तुत काण्ड के केन्द्रीय पात्र सुन्दर या हनुमान् की स्तुति करते हुए लिखा—

**‘अतुलित बलधामं हेमशैलाभदेहं,
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं,
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि ॥’**

अर्थात्, 'अतुल बल के धाम, सोने के पर्वत (सुमेरु) के समान कान्तियुक्त शरीरवाले, राक्षसरूपी वन के ध्वंस के लिए अग्निस्वरूप, ज्ञानियों में अग्रगण्य, सम्पूर्ण गुणों के निधान, वानरों के स्वामी, श्री रघुनाथ जी के प्रिय, पवनपुत्र हनुमान् को मैं प्रणाम करता हूँ।'।

उपर्युक्त स्तुति में पवनपुत्र की बलिष्ठता, सुन्दरता, असुरसंहारकता, विद्वत्ता, गुणवत्ता, श्रेष्ठता, रामभक्ति नामक सभी गुणों पर एकसाथ प्रकाश डाला गया है।

अनेक शैव पुराणों में हनुमान् को रुद्रावतार माना गया है। *देवीपुराण* (अृ 37) के अनुसार जिस समय विष्णु ने रावण के विनाश के लिए अवतार लेने की प्रतिज्ञा की थी, तब शिव ने विष्णु को आश्वस्त किया था कि मैं पवनदेव के पुत्र के रूप में जन्म लेकर, वानर के रूप में, तुम्हारी सहायता करूँगा। उधर रावण भी रुद्र की उपासना करके उनका कृपापात्र बनने और आत्मरक्षा के बारे में पूर्णतः आश्वस्त होना चाहता था। इसलिए उसने अपने दशों शीश चढ़ाकर दस रुद्रों को प्रसन्न कर लिया था, किन्तु उससे चूक यह हुई थी कि उसे इस तथ्य की जानकारी नहीं थी कि पवनपुत्र हनुमान् तो ग्यारहवें रुद्र के अवतार हैं। अतः पवनपुत्र ने यथासमय विष्णु के अवतार राम की सहायता की और लंका में आग लगाने के अतिरिक्त राक्षसों का

संहार भी किया। गोस्वामी तुलसीदास ने *श्रीरामचरितमानस*, *हनुमान चालीसा*, *हनुमान बाहुक* में हनुमान को रुद्रावतार के रूप में प्रस्तुत किया है। *विनयपत्रिका* में हनुमान् को रुद्रावतार घोषित करते हुए तुलसी लिखते हैं— 'जयति रणधीर, रघुवीरहित, देवमणि, रुद्र-अवतार, संसार-पाता'।

रामकथा के किष्किन्धाकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड तक, चार काण्डों में, पवनपुत्र अपनी अनूठी सूझबूझ, सच्ची श्रद्धा और सेवा-भावना, संकल्प-शक्ति और शौर्य आदि गुणों के कारण छाये हुए हैं। उन्हीं के माध्यम से किष्किन्धाकाण्ड में राम की वानरराज सुग्रीव से भेंट और फिर प्रगाढ़ मित्रता हुई। सीता की खोज में तो उनकी रामभक्ति और शक्ति का पूरा उत्कर्ष उजागर हुआ है। समुद्र लौंघकर सीता की सुधि लाने के दुष्कर कार्य का प्रश्न उठते ही उन पर अमित भरोसा करनेवाले ऋक्षराज जाम्बवान् ने महावीर पवनपुत्र को लक्ष्य करके कहा कि बन्धु ! तुम्हारे लिए जग में कोई कार्य असम्भव नहीं है, तुम्हारा तो अवतार ही रामकाज साधने के लिए हुआ है। इससे आत्मशक्ति का बोध होते ही हनुमान पर्वताकार हो गये—

‘कवन सो काज कठिन जगमाहीं । जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं ॥

राम-काज लागि तब अवतारा । सुनतहिं भयउ पर्वताकारा ॥’

—*श्रीरामचरितमानस*, किष्किन्धाकाण्ड, 29.3

'सुन्दरकाण्ड' में तो शौर्यमूर्ति पवनपुत्र का आत्मविश्वास अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। उन्होंने समुद्रोल्लंघन के लिए लम्बी छल्लाँ लगायी और मार्ग की बाधाओं को ठुकराते चले गये। सर्वप्रथम उन्होंने छायाग्राहिनी सुरसा राक्षसी का संहार किया, फिर लंका में प्रवेश करते ही मुष्टि-प्रहार से मायाविनी लंकिनी का संहार किया। रामभक्त विभीषण से मिलकर उन्हें भारी सन्तोष हुआ। तत्पश्चात् अशोकवाटिका में पीड़ा की प्रतिमा सीता को देखते ही उनकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो उठी। वृक्षों से फल तोड़ने पर जब रक्षक और रावणपुत्र अक्षयकुमार बाधक बना, तो उसे भी ठिकाने लगा दिया। बाद में, रावणपुत्र मेघनाद के नागपाश में वे जान-बूझकर आबद्ध हो गये। जब माता सीता को सम्मानपूर्वक लौटाने के उनके सत्परामर्श को दुष्ट रावण ने ठुकरा दिया, तो उसके दम्भ को भस्म करने के उद्देश्य से लंका-दहन का अद्भुत कारनामा कर दिखाया। बाद में सीताजी को आश्वस्त करके, चूड़ामणि लेकर लौट आये और सबको समाचारों से अवगत कराया।



लंकाकाण्ड में रावणपुत्र मेघनाद के प्रचण्ड शक्ति-वाण से मूर्च्छित लक्ष्मण के उपचार के लिए सुमति, शक्ति और वेग के प्रतीक पवनपुत्र ने द्रोणाचल से संजीवनी बूटी लाने का असम्भव कार्य सम्भव कर दिखाया तथा लक्ष्मण की मूर्च्छा और राम की मर्म-व्यथा का परिहार करके भारी यश और पुण्य के भागी बने। उन्होंने युद्ध-क्षेत्र में रावण के छके छुड़ाकर अद्भुत रणकौशल का परिचय दिया। लंका-विजय के उपरान्त राम, सीता और लक्ष्मण के साथ अंगद, सुग्रीव आदि वानरों-सहित वे अयोध्या पहुँचे और राम के राज्याभिषेक-समारोह में सम्मिलित हुए।

सेवक से सेव्य, भक्त से भगवान्, ध्याता से ध्येय बनकर भक्तप्रवर हनुमान् राम की भाँति ही जन-जन की आस्था के केन्द्र बन गये। अतः पवनपुत्र के कृपा-पात्र भक्तों पर सीता-राम, लक्ष्मण और पार्वती-शंकर भी कृपा करते हैं—

**‘तापर सानुकूल गिरिजा, हर, लखन, राम अरु जानकी ।
तुलसी कपि की कृपा-विलोकनि, खानि सकल कल्याण की ॥’**

भगवान् राम की भाँति भक्त हनुमान् भी मंगलकारी के साथ अमंगलहारी भी हैं। तुलसीदास ने भगवान् और भक्त— दोनों को समान शब्दावली में पारिभाषित किया है। उनकी दृष्टि में राम ‘मंगल भवन अमंगल हारी’ हैं, तो भक्त हनुमान् ‘मंगलमूर्ति मारुतनन्दन, सकल अमंगल मूल निकन्दन’ हैं। राम की भाँति हनुमान् भी जानते और मानते हैं कि मंगल के विकास के पूर्व अमंगल का विनाश अनिवार्य है। अतः हनुमान जी भी जीवन के इसी बाधक पक्ष के परिहार को प्राथमिकता देते हैं। अतः वे सर्वप्रथम अमंगलहारी हैं—

**‘भूत पिशाच निकट नहिं आवै । महावीर जब नाम सुनावै ॥
नासै रोग हरै सब पीरा । जपत निरन्तर हनुमत बीरा ॥’**

—हनुमान चालीसा, 24-25

राम की भाँति हनुमान् भी धर्म के पोषक, साधु-सन्त के संरक्षक हैं और अधर्म के अधिनायक असुरों के संहारक हैं—

‘साधु सन्त के तुम रखवारे । असुर निकन्दन राम दुलारे ॥’

—हनुमान चालीसा, 30

राम के सेवक, सहचर और सहयोगी के रूप में उनका त्याग, तप, समर्पण, विश्वास श्लाघ्य और वन्दनीय है। वे दिव्य भावों के अखिल भाण्डार हैं। वे गति,

शक्ति और मुक्ति के जंगम तीर्थ हैं। उनका बहुआयामी व्यक्तित्व अपने अथक संघर्ष के माध्यम से अपूर्व उत्कर्ष की गौरवगाथा कहता है। वे अपनी लौकिकता में ही अलौकिक भास्वरता से मण्डित हैं। वे जितने बलशाली और पराक्रमी हैं, उतने ही मन-मस्तिष्क से मेधावी, बहुकलाविद्, वेदों और शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित और भावुक भक्त हैं। *विनयपत्रिका* (पद 28) में उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की झाँकी प्रस्तुत करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—

‘जयति निगमागम व्याकरण करणलिपि, काव्य-सिंधु कला कोटि-सिंधो ।
सामगायक, भक्त-कामदायक, वामदेव, श्रीराम प्रिय प्रेम-बन्धो ॥’

अर्थात्, ‘हे हनुमान् जी, आपकी जय हो ! आप वेद, शास्त्र और व्याकरण पर भाष्य लिखनेवाले और काव्यप्रेमी तथा करोड़ों कलाओं के सिंधु हो। आप सामवेद के गायक, भक्तों की कामना पूर्ण करनेवाले, साक्षात् शिवरूप हो तथा श्रीराम के प्रिय और प्रेमी बन्धु हो।’

भक्त-शिरोमणि हनुमान् अपनी प्रकृति और संस्कृति से तो दिव्य हैं ही, अपनी आकृति से भी उतने ही भव्य हैं। पवनपुत्र की सबल काया सिन्दूर-सज्जित, लालिमामयी है। सिन्दूर का आलेपन पीड़ाहारी माना जाता है, किन्तु मूलतः वह सुख, सौभाग्य, आस्था, भक्ति का द्योतक तथा शुभ शकुनसूचक है। इसलिए विवाहिता स्त्रियाँ इसे अपनी माँग में भरकर अपने पति तथा स्वयं अपने मंगल और दीर्घ जीवन की कामना करती हैं। मंगल-मूर्ति हनुमान् अपने स्वामी और विश्व के मंगल के लिए लांगूल (पूँछ) समेत अपनी पूरी काया को सिन्दूर-मण्डित रखते हैं—

‘लाल देह लाली लसै, अरु धरि लाल लंगूर ।
वज्र देह दानव दलन, जय जय जय कपि सूर ॥’

—संकटमोचन हनुमानष्टक, दोहा

अन्त में, प्रस्तुत है वज्रांगबली के प्रति यह स्तुति—

‘उल्लंघ्य सिंधोः सलिलं सलीलं यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥’

—हनुमत्स्तवन, 7

अर्थात्, ‘जिसने सिंधु (महासागर) के जल को खेल-खेल में लाँघकर, जनकपुत्री सीता के शोक की अग्नि को लेकर, उसी (अग्नि) से लंका को भस्म कर डाला, उस अंजनी-पुत्र हनुमान् को मैं करबद्ध नमस्कार करता हूँ।’

उपसंहार

क. हिन्दुत्व की आत्मा

स

म्पूर्ण पुस्तक में किये गये विवेचन के आधार पर निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि अपने मूल रूप में हिन्दू धर्म मानव-महिमा का दर्शन है। यह जीवात्मा, जगत् और परमात्मा की एकता के सिद्धान्त पर आधारित, एक समतामूलक, अभेदवादी जीवन-दर्शन है, जो ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ अर्थात् समूचे विश्व को ही एक परिवार मानने के मानवतावादी चिन्तन पर केन्द्रित है। यह सिद्धान्त जाति, वर्ण, वर्ग, देश आदि के किसी भी प्रकार के भेदभाव से ऊपर है। कुल मिलाकर, यह मानव-प्रकृति को अर्थ और काम की विकृतियों से विमुख करके संस्कृति की कल्याणकारी दिशा में उन्मुख और अग्रसर करनेवाली आचारसंहिता है। यह मनुष्य को पाप और पतन के गर्त से निकालकर उत्थान और उत्कर्ष के शिखर पर समासीन करनेवाली विकास-योजना है।

मनु महाराज ने *मनुस्मृति* (12.125) में वेदान्त-चिन्तन को ब्रह्मपद या परमपद के उत्कर्ष पर पहुँचानेवाला चिन्तन माना है—

‘एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥’

अर्थात्, ‘जो मनुष्य सभी जीवात्माओं में स्वयं आत्मा से आत्मा को देखता है, वह सभी से एकता को प्राप्त करके सर्वोच्च ब्रह्मपद को प्राप्त करता है।’

हिन्दुत्व की उपर्युक्त अवधारणा कल्पनामात्र नहीं है। यह तो वैदिक ऋषियों द्वारा अपने लोक-व्यवहार में अपनाया गया व्यवहार-दर्शन है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम अध्याय में दर्शाया गया है कि ब्रह्म के सात्त्विक स्वरूप के अनुरूप व्यवहार

करने के कारण सभी ऋषि ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मचारी और ब्राह्मण कहलाते थे। यह ब्रह्मचर्य-व्रत ही 'तप' कहलाता था। *अथर्ववेद* (11.5) के अनुसार ब्रह्मचारी ही अपने तपोबल से सब आचार्यों और देवताओं का पालन करता है। देवगण ब्रह्मचारी के समान मनवाले होते हैं। स्पष्ट है कि सदाचार पर आधारित ब्राह्मी दृष्टि के कारण देवता और मनुष्य में कोई भेद नहीं रहता था। मनुष्य देवता के समान या उससे भी महान् हो जाता था।

मनुष्य को भव्य से दिव्य बनाकर महत्ता के चरम शिखर पर पहुँचाना ही धर्म का असली ध्येय है। अर्थ से उत्पन्न धनलिप्सा और काम से उत्पन्न भोगलिप्सा के कारण उत्पन्न विकृतियाँ और संबंधित संकट ही भवबन्धन हैं। धर्म ही मनुष्य को इन भव-बन्धनों से छुटकारा दिलाकर इस जीवन में ही 'मोक्ष' प्रदान करता है, जिसे 'जीवन्मुक्ति' कहा जाता है। इस जीवन में ही मुक्ति पानेवाला जीवन्मुक्त व्यक्ति जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त रहकर चिरमुक्ति प्राप्त करता है।

जीवन-व्यवस्था को सुचारु रूप में धारण करने के कारण भारतीय धर्म अपने शुद्ध स्वरूप में केवल 'धर्म' है। 'हिन्दू धर्म', 'आर्य-धर्म', 'वैदिक धर्म' आदि नाम वास्तव में इसके विशेषण हैं। इनमें सबसे अधिक प्रचलित, सार्थक और लोकप्रिय नाम है हिन्दू धर्म। हिन्दू धर्म हिन्द (राष्ट्र) और हिन्दुत्व (राष्ट्रीयता और संस्कृति) के व्यापकतम बोध पर आधारित होने के कारण सर्वाधिक सार्थक है। सार्वभौम, सार्वकालिक सत्य पर आधारित होने के कारण यह 'सनातन धर्म' कहा जाता है। आर्य ऋषियों के वैदिक चिन्तन से अनुप्राणित होने के कारण यह 'आर्य धर्म', 'आर्य धर्म' और 'वैदिक धर्म' कहलाता है। वेदान्त की ब्राह्मी दृष्टि से प्रेरित होने के कारण यह 'ब्राह्मण-धर्म' है। यह ब्राह्मी दृष्टि ही आर्यों की श्रेष्ठता का आधार है। 'आर्य' का अर्थ है सर्वोत्तम या श्रेष्ठ। अभेद दृष्टि पर आधारित श्रेष्ठता या आर्यत्व ही हिन्दुत्व की कसौटी है।

ख. हिन्दुत्व की कसौटी पर हिन्दू समाज

जीवन और जगत् का यह कठोर सत्य है कि जिस व्यक्ति, व्यवस्था या धर्म में उत्कर्ष की जितनी अधिक सम्भावनाएँ निहित होती हैं, उसी में कुमतिग्रस्त होने पर पतन की भी उतनी ही आशंकाएँ छिपी रहती हैं, जो इतिहास के चढ़ाव-उतार के क्रम में यथासमय उभर आती हैं। हिन्दू मनीषा परम्परा से ही सुमतिसम्पन्न और सुसंस्कृत रही है, किन्तु पराधीनता के मुस्लिम और ब्रिटिश कालों में मानसिक दासता के

दुष्प्रभावों ने इसे भारी क्षति पहुँचायी है और यह अपनी पुरानी पहचान से भटककर विकृतियों के बियाबान में खो गयी है। भारतीय मनीषा सनातन धर्म और संस्कृति की पटरी से उतर गयी है। इस भीषण भटकाव पर गहराई से चिन्तन और मन्थन की आवश्यकता है। यहाँ कुछ चिन्तनीय मुद्दे प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिन पर विमर्श पुनरुद्धार का द्वार सिद्ध होगा :

1. वर्ण और जाति-भेद— यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि ऋग्वेद (10.90.12) में विराट् पुरुष के विविध अंगों से जिन चार वर्णों का उदय बताया गया था, वह गुण-कर्म के आधार पर था। वह जातिगत (जन्मगत) या वर्गगत नहीं था। यदि शूद्र पतित और अछूत होते, तो उनके जन्मस्थल चरण भी अछूत माने जाते, किन्तु परम्परा यह है कि शूद्र 'महत्तर' (अन्यों से बढ़कर) माने गये और चरणों को ही वन्दनीय और पूजनीय माना जाता रहा है। चरण-स्पर्श के समय ही शीश पर आशीर्वाद की वर्षा होती है। वैदिक काल में प्रचलित स्वयंवर-प्रथा किसी भी प्रकार के भेद-भावगत वर्गीकरण का समर्थन नहीं करती। यह स्वयंवर-प्रथा *वाल्मीकीयरामायण* और *महाभारत* में भी देखी जा सकती है। ब्रह्म-बोध के आधार पर ब्रह्मचारी और ब्राह्मण कहलाने का सभी को समान अधिकार था।

आगे चलकर वर्ण-व्यवस्था को जाति या जन्म के शिकंजे में कसा गया और आश्रम-व्यवस्था को भी उसी की जकड़ में ले लिया गया। डॉ. नीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा ने '*सनातन धर्मसभा शताब्दी-ग्रन्थ*' में संकलित अपने लेख 'सनातन धर्म और वर्ण-व्यवस्था' में इसी परवर्ती संकीर्ण व्यवस्था के संकीर्ण स्वरूप को गौरवान्वित करते हुए लिखा है— 'केवल ब्राह्मणों का ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास— इन चारों आश्रमों में अधिकार है; क्षत्रिय का तीन आश्रमों— ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ में; वैश्य का ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य— इन दो आश्रमों में तथा शूद्र का केवल एक—गार्हस्थ्य आश्रम में अधिकार है।' उनकी सगर्व मान्यता है— 'इसमें घृणा की कोई बात नहीं है। यह आत्मरक्षा का कवचमात्र है। वर्णाश्रमी सभ्यता के बाहर शुचि-अशुचि या स्पर्शास्पर्श की धारणा भी नहीं है।'

वर्णाश्रम-व्यवस्था की उक्त वेदान्त-विरोधी अवधारणा का विरोध उपनिषदों, *गीता*, *रामायण*, *महाभारत* में हुआ। *महाभारत* (वनपर्व, 80.25) में गुण और शील को ही ब्राह्मणत्व की कसौटी माना गया है, जाति को नहीं—

‘सत्यं दानं क्षमा शीलमनृशंस्यं तपोऽघृणा ।

दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते ।

न वै शूद्रौ भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥'

अर्थात्, 'सत्य, दान, क्षमा, शील, क्रूरता का अभाव (सौम्यता), तप और अघृणा (अपनत्व) नामक गुण जिस किसी भी व्यक्ति में मिलते हैं, वही ब्राह्मण कहलता है। यदि ये गुण शूद्र में पाये जाते हैं, तो वह शूद्र नहीं होता और यदि ये ब्राह्मण में नहीं पाये जाते हैं, तो वह ब्राह्मण नहीं माना जाता।'।

गीता (4.13) में भगवान् कृष्ण ने ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार ही गुणकर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था के विधान की बात कही है, जातिगत, जन्मगत आधार की नहीं। उनकी मान्यता है— 'चातुर्वर्ण्यं मया सृतं गुणकर्म विभागशः'। अतः उन्होंने छूत-अछूत पर आधारित जन्मगत वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करते हुए स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डाल आदि शरणागत भक्तों को भी परमपद का अधिकारी घोषित किया है—

‘मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥’

—वही, 9.32

चौथी शती में रचित विष्णुपुराण और उसके बाद के वैष्णव पुराणों पद्मपुराण, भागवतपुराण आदि में तथा वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में सम्मिलित सभी आचार्यों और कवियों ने भक्ति के क्षेत्र में शूद्रों को गौरवमय पद प्रदान किया है। नारदभक्तिसूत्र (72) में लिखा है कि भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, क्रिया आदि का कोई भेदभाव नहीं है— 'नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः'।

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रमुखतम कवि गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने महाकाव्य श्रीरामचरितमानस में केवट, शबरी, काकभुशुण्डि, निषादराज गुह आदि निम्न जाति के भक्तों को गौरवान्वित किया है। काकभुशुण्डि की भक्ति पर रीझकर राम कहते हैं कि नीच-से-नीच जाति का भक्त भी मुझे प्राणों से प्यारा है—

‘भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी ॥’

—श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 85.5

बौद्ध मत, जैन मत, नाथ पन्थ, सन्त मत, सिख पन्थ आदि ने जाति-प्रथा

के विरुद्ध विद्रोह किया और निम्न जातियों और वर्गों को गले लगाकर अपनी उदारहृदयता का परिचय दिया। दुर्भाग्य यह है कि समता और ममता की अभेदवादी नीति अपनानेवाले महापुरुष भी हिन्दू समाज में हैं; किन्तु जाति, धर्म, सम्प्रदाय के आधार पर भेदभाव की नीति और राजनीति के सूत्रधार भी हमारे भीतर ही हैं।

अपनी गौरवपूर्ण, अभेदमूलक, आध्यात्मिक विरासत पर गर्व करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन कहते हैं कि हमारे आध्यात्मिक उत्तराधिकार के द्वार सबके लिए तत्काल खोलने की आवश्यकता है। वे कहते हैं— 'प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का अधिकार है, जो ब्राह्मणत्व वह स्थिति है, जहाँ पहुँचकर आन्तरिक चारुता और ब्राह्म सौन्दर्य एक हो जाते हैं।' क्या हम पेजावर पीठ, कर्नाटक के सन्त श्री विश्वेश तीर्थ के निम्नलिखित पावन सन्देश को व्यवहार में उतारने की प्रतिज्ञा करेंगे?

‘हिन्दवः सोदराः सर्वे, न हिन्दू पतितो भवेत् ।

मम दीक्षा हिन्दूरक्षा, मम मन्त्रः समानता ॥’

अर्थात्, 'सभी हिन्दू सगे भाई हैं। हिन्दू कभी भ्रष्ट या अछूत नहीं होता। मेरा संकल्प तो हिन्दू-रक्षा है। मेरा आशय तो सबकी समानता है।'।

2. साम्प्रदायिकता का आक्षेप— इस हिन्दुत्व का दुर्भाग्य तो देखिये कि संकीर्ण स्वार्थों से ग्रस्त हिन्दू भाई ही अपने हिन्दू भाइयों को साम्प्रदायिक घोषित करने और हिन्दुत्व को साम्प्रदायिकता के कलंक से लाञ्छित करने में विश्वविजेता होने के गर्व की अनुभूति करते हैं। वास्तविकता यह है कि स्वभाव से जनतान्त्रिक होने के कारण हिन्दू-धर्म में साम्प्रदायिक संकीर्णता के लिए कोई स्थान नहीं है। यहाँ जैन मत, बौद्ध मत, सन्त मत आदि विभिन्न मत हैं, किन्तु मन-भेद नहीं। इसी प्रकार नाथ पन्थ, सिख पन्थ आदि सभी पन्थों का लक्ष्य एक ही है। अकेले वैष्णव सम्प्रदाय में ही श्रीसम्प्रदाय, रामावत सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय आदि अनेक उपसम्प्रदाय हैं, किन्तु सम्प्रदायों के होते हुए भी 'साम्प्रदायिकता' का कहीं नाम भी नहीं है। अकेले वृन्दावन में बीसों मतों, पन्थों, सम्प्रदायों के सन्त, भक्त, साधु रहते हैं, किन्तु उनमें कोई साम्प्रदायिकता कभी नहीं दिखलायी पड़ती। हमारे यहाँ सम्प्रदाय का अर्थ उस सामाजिक घटक से है, जिसमें गुरु अपने शिष्यों को सम्यक् रीति से ज्ञान प्रदान करता है— 'सम्यक् रूपेण प्रदीयते ज्ञानमनेन इति सम्प्रदायः'।

3. अपनत्व और आत्मसातीकरण का अभाव— अनेक कुण्डों, आन्तरिक रोगों के कारण हिन्दू धर्म का पाचन-तन्त्र बिगड़ चुका है। प्राचीन काल में इस तथ्य के अनेक प्रमाण मिलते हैं, जब हूण, शक, कुशाण, यवन, पार्थियन आदि विदेशी यहाँ आये और भारतीय धर्म, संस्कृति में समाकर एकाकार हो गये। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार (1903-?) ने अपनी पुस्तक *‘भारतीय संस्कृति का विकास’* (पृ. 139) पर लिखा है— ‘भारत के सम्पर्क में आकर इन विदेशी जातियों ने इस देश के धर्म, भाषा, सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया था। इन्होंने बौद्ध, वैष्णव, शैव आदि भारतीय धर्मों की दीक्षा लेकर प्राकृत एवं संस्कृत-भाषा का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया था और भारत में आकर वे पूर्णरूप से भारतीय संस्कृति के रंग में रँग गये थे। बहुत से विदेशी लोगों ने तो अपने नाम भी भारतीय ही रखने शुरू कर दिये थे। अब स्थिति यह है कि हम अपनों को भी नहीं अपना पाते हैं। हम अपनों को ही अछूत समझते हैं। फिर जो हिन्दू भाई मुस्लिम और ब्रिटिश शासनकाल में आतंक या प्रलोभन के वशीभूत होकर मुसलमान या ईसाई बन गये थे, उन्हें भी दुबारा अपनाने में आनाकानी की जाती है। उनमें से अनेक मुस्लिम और ईसाई तो अब भी अपने पुराने गोत्रों को भूले नहीं हैं और अब भी अपने गोत्रों में शादियाँ नहीं करते हैं। वे अब भी अपने नामों के साथ चौधरी, त्यागी, मलिक, डार (धर या श्रीधर) आदि लिखते हैं। बांग्लादेश में तो अब भी मज़हब मुस्लिम है, किन्तु संस्कृति हिंदू है। वहाँ की स्त्रियाँ साड़ियाँ पहनती हैं और माथे पर बिन्दी या टीका और माँग में सिन्दूर लगाती हैं।’

4. धर्म के नाम पर अधर्म और पाखण्ड— इस दृष्टि से आचार्य चतुरसेन शास्त्री (1891-1960) की पुस्तक *‘धर्म के नाम पर’* विशेष पठनीय है। उन्होंने मठों-मन्दिरों तथा अन्य धर्म-स्थलों में प्रचलित भ्रष्टाचारों, व्यभिचारों, आडम्बरों, अन्धविश्वासों, तान्त्रिक प्रपञ्चों का पूरा इतिहास ही लिख दिया है। आज भी अनेक ढोंगी सन्त-महन्त, बापू, ज्योतिषी आदि धर्म का जमकर दुरुपयोग करते हैं और धर्म की आड़ में अर्थ और काम से सम्बन्धित दुष्कर्मों में संलिप्त रहते हैं। तीर्थों को भी लूट और ठगी का ठिकाना बना रखा है। मन्दिरों में चढ़ावे के रूप में प्राप्त अथाह धन-राशि, सोने, हीरे आदि के नियन्त्रण की कोई सुचिन्तित व्यवस्था नहीं है। पाखण्डों पर रोक लगाने तथा मन्दिरों में सञ्चित अथाह धन-राशि के सदुपयोग की व्यापक स्तर पर सुनियोजित योजना या व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। यह व्यवस्था देश और विश्व के स्तर पर अभीष्ट है। अधर्म पर रोकथाम लगने से ही धर्म अपनी

पूरी आध्यात्मिक आभा मानव-मंगल की दिशा में विकीर्ण कर सकता है।

5. पतन की पराको 1 : मिलावट— अध्यात्म की आभा में रत देश का नाम है भारत। ऋषियों, देवताओं, अवतारों की इस देवभूमि भारत की आध्यात्मिकता की शव-यात्रा निकलती हुई तो तब प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ती है, जब राम और लक्ष्मी की पूजा के पुण्य पर्व ‘दीपावली’ पर मिलावटी मावे से बनी मिठाइयों की बिक्री से मनमानी लक्ष्मी बटोरने की कुचेष्टा में देश की जनता के जीवन से खुलकर खिलवाड़ की जाती है। यहाँ भ्रष्टाचार आचार-विचार से लेकर दूध, सब्जी, आटा, ओषधियाँ, खाद्य और पेय पदार्थ आदि सभी के स्तर पर व्याप्त है। यहाँ यह सनातन सत्य चिरस्मरणीय है कि मनुष्य को इसी जीवन में दुष्कर्मों का दण्ड और सत्कर्मों का पुण्य अवश्य मिलता है। सच्चे श्रम की कमाई को ही ‘लक्ष्मी’ कहा जाता है। पाप की कमाई तो छलना है, धोखा है, माया है, जो छलिया को ही लील लेती है। प्रज्ञापराधी, मनोरोगी, प्रपञ्ची न मन से स्वस्थ रहते हैं, न तन से और न धन से।

6. नारी को भोग्य पदार्थ मानना भारी अज्ञान— वेदान्त की दृष्टि में नर-नारी समान हैं। देवियाँ उतनी ही पूज्य हैं, जितने देवगण। राधा-कृष्ण, सीता-राम, उमा-शिव आदि नाम-युग्मों में देवियों को वरीयता प्रदान की गयी है, जो नारी-महिमा की उपासक भारतीय मनीषा की द्योतक है। नारी की शक्ति से ही पुरुष शक्तिमान् होता है। नारी दुर्गा (शक्ति) है, तो पुरुष शिव (शक्तिमान्) है। शक्ति के तीन रूप हैं— तन की, मन की और धन की शक्ति। हमारे धर्म में दुर्गरक्षिणी, सिंहवाहिनी दुर्गा आद्या शक्ति हैं। उनमें तन-बल की प्रधानता है। विद्या की देवी ‘सरस्वती’ में विवेकसम्मत संकल्प या मनोबल की प्रमुखता है। इसी प्रकार समृद्धि और वैभव की देवी लक्ष्मी में धन-बल की प्रमुखता है। यहाँ नारी-शक्तीकरण हमारे धर्म और संस्कृति का अभिन्न अंग है। वर्तमान छद्म नारी-शक्तीकरण इस बात का सूचक है कि हम अपने सनातन धर्म को भूल गये हैं। अस्मिता-बोध की धूमिलता के कारण ही आज आद्या मातृशक्ति, जगज्जननी नारी को भोग्य वस्तु माना जाता है और सर्वत्र व्यभिचार और पापाचार का बोलबाला है। आज देशव्यापी स्तर पर राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भारी आवश्यकता है। आज भोग-भावना पर योग-साधना की और वासना पर उपासना की धर्म-ध्वजा फहराने की आवश्यकता है।

7. कन्या-भ्रूण-हत्या : जघन्य अपराध— पुत्र-पुत्री में भेदभाव रखने

की दुर्बुद्धि ही मूढ़ मानव को कन्या-भ्रूण-हत्या के जघन्य पाप के अन्ध-कूप में धकेलती है। ऐसा पापी लिंगानुपात बिगाड़कर सामाजिक असन्तुलन उत्पन्न करने का भी अपराधी है। पापों और अपराधों से मुक्त रहने की दिशा और दृष्टि प्रदान करने के उद्देश्य से ही वेदान्त की अभेद दृष्टि पर आधारित हिन्दू धर्म समता और समरसता का सनातन सन्देश देता है।

8. रात्रबोध और सांस्कृतिक चेतना से शून्य शिक्षा— अब शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानप्राप्ति नहीं, नौकरी, उद्योग या व्यवसाय द्वारा पैसा कमाना है। अब शिक्षा ज्ञानप्रधान विद्या नहीं है, अब वह विज्ञानप्रधान, तकनीकी तथा व्यवसाय-केन्द्रित प्रशिक्षण है। अब वह जीवन-मूल्यों पर आधारित नहीं, भौतिक या आर्थिक मूल्यों पर केन्द्रित है। उसका लक्ष्य व्यक्तित्व-विकास नहीं, भौतिक प्रगति है। अब सुशिक्षित विद्यार्थी धन कमाने के यन्त्र बन रहे हैं।

शिक्षा-जगत् पर आधिपत्य जमाये बैठे बड़े-बड़े उद्योगपतियों द्वारा संचालित इंग्लिश-पब्लिक स्कूल धनोपार्जन के कमाऊ कारखाने हैं। इनका उद्देश्य इंग्लिश सिखाना नहीं, वरन् मँहँगे दामों में उसका व्यापार करना है। अधिकतर पब्लिक स्कूलों में अंग्रेज़ी व्याकरण और उस पर आधारित ट्रांसलेशन की विधि का ज्ञान नहीं कराया जाता। गुरुजन और महागुरुजन के आशीर्वाद से बच्चे अशुद्ध अंग्रेज़ी में उत्तर लिखकर भी परीक्षा में प्रायः प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण हो जाते हैं। बच्चे अंग्रेज़ी के चक्र में हिंदी से भी वञ्चित रहते हैं। उच्च शिक्षा के स्तर का भी भारी पतन हुआ है। बच्चे कोई भी भाषा भली भाँति नहीं सीख पाते। मूलतः भाषा ही चिन्तन है। वह केवल चिन्तन का माध्यम नहीं है। चिन्तन भाषा में ही जन्म लेता है और उसी में साकार होता है। राष्ट्रभाषा से वञ्चित व्यक्ति में राष्ट्रबोध कैसे आ सकता है? संस्कृत-भाषा की उपेक्षा अपनी पराकाष्ठा पर है। संस्कृतविहीन व्यक्ति संस्कारी या सुसंस्कृत कैसे बनेगा ?

9. नीतिविहीन राजनीति— जैसा कि तीसरे अध्याय में दर्शाया जा चुका है कि प्राचीन भारत में राजनीति नीतिसम्मत शासन-पद्धति के रूप में प्रचलित थी। परतन्त्रता-काल में वह 'बाँटो और राज करो' की पद्धति में परिणत हो गयी। स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् भी वह अपने उसी पुराने ब्रिटिशकालीन ढर्रे पर चलकर शासकों, प्रशासकों और उनके सहयोगी उद्योगपतियों की तिकड़ी के तिकड़म-तन्त्र के अनुरूप चलकर सत्ता और सम्पत्ति हथियाने का कारगर यन्त्र सिद्ध हो रही है।

जनता को जाति और धर्म के आधार पर बाँटने के लिए आरक्षण को एक हथकण्डे के रूप में सफलतापूर्वक अपनाया जा रहा है। अब उच्च जातियाँ भी आरक्षण के लिए आन्दोलन करने लगी हैं। देश को अशान्त करके वोट बटोरकर आत्मतृप्ति प्राप्त करने की राजनीति सरपट दौड़ रही है। धर्मनिरपेक्षता का हथकण्डा भी वोट-बटोरू राजनीति से जुड़ा है। इसके सहारे भारत की भोली जनता को अल्पमत और बहुमत के धार्मिक आधार पर विभाजित करने का खेल कौशलपूर्वक खेला जाता रहा है। नीतिविमुख राजनीति दलीय स्वार्थ के दलदल में फँसकर अनीति को ही महिमामण्डित करने में अपूर्व गौरव का अनुभव करती रही है।

10. वेदान्त-दृष्टि का विकास अवरुद्ध— जैसा कि पहले भी अनेक बार कहा जा चुका है कि वेदान्त ही हमारे इतिहास, धर्म और संस्कृति की आत्मा है। 'भारतीय इतिहास की आत्मा : वेदान्त' पुस्तक में इस विषय पर गहन और विस्तृत अध्ययन किया जा चुका है। यह वेदान्त-दृष्टि वेदों से लेकर विवेकानन्द, रामतीर्थ, श्रीअरविन्द, महात्मा गांधी तक हमारी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना को विकसित एवं पोषित करती रही है। परतन्त्रता के विकट संकट के काल में इसी दृष्टि ने भारत को 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' का नारा दिया था। देश का दुर्भाग्य देखिये कि स्वतन्त्रताप्राप्ति के गत 67 वर्षों में इसी अखण्ड वेदान्त-दृष्टि पर छद्म धर्मनिरपेक्षता का गाढ़ा आलेपन लीप दिया गया है। अतः गांधीवाद भी न जाने कहाँ लुप्त हो गया है।

परतन्त्रताकाल में वेदान्त-दृष्टि ने राष्ट्रीय जागरण के देशव्यापी आन्दोलन का रूप ले लिया था। इसी से प्रेरित पुं प्रतापनारायण मिश्र ने जागरण का शंखनाद करते हुए कहा था—

‘चाहहु जो साँचो कल्याण । तो सब मिलि भारत सन्तान ।

जपो निरन्तर एकहि ध्यान । हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥

राष्ट्रीय पुनर्जागण के पावन उद्देश्य को लेकर हिन्दी के कवियों के साथ उर्दू के कवि भी अपने राष्ट्रधर्म का पूरी निष्ठा से पालन कर रहे थे। उर्दू के कवियों में सर्वाधिक लोकप्रिय थे सर मुहम्मद इक़बाल (1877-1938)। उनकी मान्यता है कि मनुष्य स्वयं ही साधक है और स्वयं ही साध्य। वह आप ही पथिक है और आप ही गन्तव्य—

‘ढूँढ़ता फिरता हूँ मैं, इक़बाल अपने आपको ।

आप ही गोया मुसाफ़िर, आप ही मंज़िल हूँ मैं ॥’

मुहम्मद इक़बाल ने वेदान्तसम्मत निर्गुणोपासना के साथ सगुणोपासना पर भी प्रकाश डाला है—

‘है राम के वजूद पर हिन्दोस्ताँ को नाज़ ।

अहले वतन समझते हैं उनको इमामे हिन्द ॥’

अर्थात्, ‘राम की हस्ती (अस्तित्व) पर हिन्दुस्तान को गर्व है। सारे हिन्दुस्तानी उनको हिन्दुस्तान का धर्म-गुरु समझते हैं।’

वेदान्त की अभेद-दृष्टि से प्रेरित होकर उन्होंने अपने राष्ट्र-गान (तराना-ए वतन) में लिखा—

‘मज़हब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना ।

हिन्दी हैं हम वतन है, हिन्दोस्ताँ हमारा ॥’

जिस प्रकार ‘इंग्लिश’ के दो अर्थ हैं- इंग्लिश भाषा और इंग्लिश मैन। उसी प्रकार फ्रेंच, जर्मन, जापानी, हिन्दी के दो अर्थ हैं। ‘हिन्दी’ शब्द भाषा का भी द्योतक है और हिन्दवासी ‘हिन्दू’ का भी। उपर्युक्त पंक्तियों में हिन्दी का अर्थ हिन्दवासी ही है। यह हिन्दुत्व ही हमारा राष्ट्रधर्म है और हमारा राष्ट्र है ‘हिन्दुस्तान’। हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है। यह अभेद-दृष्टि ही हमारी एकता का मूलाधार है।

स्वार्थ में अन्धी राजनीति ने वैदिक काल से चली आ रही वेदान्त की अखण्ड धारा को अवरुद्ध करने के निरन्तर प्रयास किये हैं। इसी का दुष्परिणाम है कि ‘स्वराज’ और ‘स्वदेशी’ पर आधारित गांधीवाद कभी का तिरोहित हो चुका है। इसीलिए विदेशी भाषा और सभ्यता के साथ साम्राज्यवादी और पूँजीवादी व्यवस्था को देश पर थोपा जाता रहा है। किन्तु इतिहास साक्षी है कि वेदान्त-चिन्तन के वर्चस्वी, प्रबल प्रवाह को कोई भी विदेशी शक्ति अवरुद्ध नहीं कर पायी है। बस आवश्यकता है एक सुनियोजित वेदान्ताधारित अखिल भारतीय सांस्कृतिक आन्दोलन की। इतिहास-देवता देवभूमि भारत के पुनरुत्थान की पावन प्रतीक्षा में आतुर है। वेदान्त का सनातन नारा है— ‘सत्यमेव जयते’।

अपने ‘हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान’ काव्य-संकलन की ‘रामलला का रथ’ कविता में मैंने अपने इसी विश्वास को वाणी देते हुए लिखा है—

‘सत्य, अहिंसा, प्रेम, न्याय इसके पहिये,

यही धर्म का रथ है विश्वविजेता का ।

ज्ञान-कर्म के अश्व, पताका पुण्यों की,

यह पावन वाहन युग-युग के नेता का ॥

इसी धर्म-रथ के मंगल-पथ पर चलकर,

राघव-दल असुरों के गले मरोड़ेगा ।

नहीं किसी के भी मन में कोई शंका,

रामलला का रथ जनपथ पर दौड़ेगा ?’

सौभाग्यवश अभीष्ट क्रान्ति-चेतना का अभ्युदय हो चुका है, जिसके फलस्वरूप अभेदमूलक, सर्वोदयी, जनतान्त्रिक जीवन-दृष्टि पर आधारित सुशासन के माध्यम से भारत के जन-जन का मंगल होगा और अच्छे दिन आयेंगे।

अब स्वार्थ और अनीति के वंशगत दुःशासन का सदा के लिए अन्त होने के बाद वेदभूमि और देवभूमि भारत-भू पर धर्म का शासन और अनुशासन चलेगा। सनातन धर्म की सनातनता की जय होगी।



परिशिष्ट आलोक-बिन्दु

1. धर्म और आचार

‘सर्वांगमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।

आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥’

—विष्णुसहस्रनाम, 137

अर्थात्, ‘सब शास्त्रों में आचार ही प्रथम धर्म है। आचार से धर्म की उत्पत्ति होती है तथा धर्म के स्वामी अच्युत विष्णु भगवान् हैं।’

2. धर्म की आत्मा है वेदान्त

‘एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।

सः सर्वसमतामेत्य ब्रह्माऽभ्येति परं पदम् ॥’

—मनुस्मृति, 2.125

अर्थात्, ‘जो व्यक्ति सब प्राणियों में अपनी आत्मा से आत्मा (सब प्राणियों की आत्मा अर्थात् परमात्मा) को देखता है, वह सभी की समता का अनुभव करके परम ब्रह्मपद को प्राप्त करता है।’

3. वेदान्त : मानव-महिमा का सर्वोच्च सिद्धान्त

"This (Vedanta) is the highest glorification of mankind on earth."

—जर्मन विद्वान् मोरिज़ विंटरनिट्ज़

अर्थात्, ‘यह वेदान्तदर्शन धरती पर मानव-महिमा का सर्वोच्च सिद्धान्त है।’

4. जनजान्त्रिक जीवन-दृति

‘समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥’

—ऋग्वेद, 10.191.3

अर्थात्, ‘इनके विचार-विमर्श में सहमति हो। इनकी ‘समिति’ में मतैक्य हो, मनो में समानता हो। चिन्तन में सम्मति हो। मैं तुमको समान मन्त्रणा के लिए आमन्त्रित करता हूँ। मैं तुम्हारी सहमतिसूचक आहुति के द्वारा हवन करता हूँ।’

5. समता और त्याग की महिमा

‘यज्ञशिताशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥’

—भगवद्गीता, 3.13

अर्थात्, ‘यज्ञ से बचे हुए अन्न को खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। जो पापी लोग अपने शरीर के पोषण के लिए अन्न पकाते हैं, वे तो पाप को खाते हैं।’

6. मूर्ति-पूजा : आदर्शों की पूजा

'Hindus are not idol worshippss, they worship the idea behind the idol.'

—आर्थर शापनहॉर (जर्मन विद्वान्)

अर्थात्, ‘हिन्दू मूर्तिपूजक नहीं हैं, वे मूर्ति में निहित विचार या आदर्श की उपासना करते हैं।’

7. मूर्तियों में लौकिकता-अलौकिकता का समन्वय

क. मानव दिव्य रूप में

‘आचार्यो ब्राह्मणो मूर्तिं पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।

माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥’

अर्थात्, ‘आचार्य ब्रह्म की मूर्ति हैं। पिता ब्रह्मा की मूर्ति हैं। माता पृथिवी की मूर्ति है। भ्राता तो अपनी ही आत्मा की मूर्ति है।’

ख. ब्रह्म मानवीय और लौकिक रूप में

‘त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेवः ॥’

अर्थात्, ‘हे प्रभु! तुम ही माता, पिता, बन्धु और सखा हो। तुम ही विद्या तथा धन हो! हे देवों के देव! तुम मेरे सब कुछ हो।’

8. भक्ति और अध्यात्म— सब भेदों से ऊपर

‘नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधर्मक्रियादि भेदः’

अर्थात्, ‘भक्तों में जाति, विद्या, रूप कुल धर्म, क्रिया आदि का भेद-भाव नहीं होता।’

9. हिंदुत्व का आधार है वेदान्तमूलक समता

‘हिन्दवः सोदरा सर्वे न हिन्दू पतितो भवेत् ।

मम दीक्षा हिन्दू रक्षा मम मन्त्र समानता ॥’

—सन्त श्री विश्वेश तीर्थ

अर्थात्, ‘सभी हिन्दू सगे भाई हैं। हिन्दू कभी पतित या अछूत नहीं होता। मेरा संकल्प हिन्दू-रक्षा है। मेरा मन्तव्य सबकी समानता है।’

10. विश्व-बन्धुत्व

‘माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः’

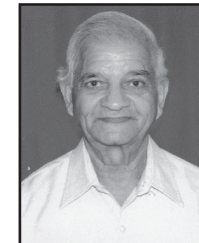
—अथर्ववेद, 12.1.12

अर्थात्, ‘भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।’

‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ में भी विश्वबन्धुत्व का सन्देश दिया गया है।



डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा जीवन-वृत्त



- ★ जन्म-तिथि : 05 जून 1934 ई
- ★ जन्म-स्थान : ग्राम चाँदनेर, जिला- मेरठ (अब गाज़ियाबाद), उ० प्र०
- ★ माता-पिता : श्रीमती मोहिनी देवी, ठाकुर जुगल किशोर वर्मा
- ★ शिक्षा : एमृ ए० , पीएच० डी (संस्कृत), एमृ ए० , पीएच० डी , डी लिट० (हिन्दी), विद्यावाचस्पति (मानद)
- ★ अध्यापन :
 1. बेयरिंग क्रिश्चियन कॉलेज, बटाला (पंजाब), (16 अगस्त, 1960-05 जनवरी, 1965)
 2. कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (06 जनवरी, 1965-अप्रैल, 1976)
 3. महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (अप्रैल, 1976-05 जून, 1994)अन्तिम पद : प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी तथा ललितकला विभाग, डीन, भाषा-संकाय
- ★ पदक, पुरस्कार तथा सम्मान :
 - श्रीमती होमवती देवी स्वर्ण-पदक (बी० ए० 1955 ई)
 - श्रीमती कमला चौधरी स्वर्ण-पदक (एमृ ए० 1957 ई)
 - ‘अंधायुग : एक विवेचन’ पुस्तक पर भाषा-विभाग हरियाणा सरकार द्वारा प्रथम पुरस्कार (1974)
 - ‘डॉक्टर डमरूगोपाल’ (उपन्यास) पर हरियाणा साहित्य अकादमी का प्रथम पुरस्कार (1999)
 - ‘पवनपुत्र की पूँछ’ (उपन्यास) पर हरियाणा साहित्य अकादमी का प्रथम पुरस्कार (2001)
 - एक लाख की राशि-सहित हरियाणा साहित्य अकादमी का सर्वोच्च पुरस्कार (सूर-पुरस्कार, 2002)

- हरियाणा साहित्य अकादमी का वर्तमान शिखर सम्मान 'हरियाणा साहित्यरत्न' से (ढाई लाख रुपये की राशि सहित (2010 ई.) सम्मानित
- 'मानस-संगम' कानपुर द्वारा 'तुलसी-काव्य-विशेषज्ञ' के रूप में सम्मानित (दिसम्बर, 1978)
- हिन्दी प्रादेशिक साहित्य सम्मेलन के सातवें अधिवेशन (अम्बाला) में सम्मानित (अप्रैल, 1983)
- रामायण-मेला-समिति, अयोध्या द्वारा 'मानस-मर्मज्ञ' के रूप में सम्मानित (1992)
- हिंदी-साहित्य-संस्थान, रोहतक के तत्त्वावधान में सेवा-मुक्ति के अवसर पर 'साहित्य-मनीषी डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ' द्वारा अभिनन्दित (1994)
- साहित्य अकादमी, दिल्ली की जनरल काउन्सिल का पाँच वर्ष के लिए सदस्य मनोनीत (1998-2002)
- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा 'विद्यावाचस्पति' की मानद उपाधि से सम्मानित (2004)

★ प्रकाशित कृतियाँ :

क. शोध-समालोचना-ग्रन्थ :

1. संस्कृत-कविता में रोमाण्टिक प्रवृत्ति (पीएच. डी. , शोध-प्रबन्ध, संस्कृत), 1967
2. नयी कविता के नाट्य-काव्य (पीएच. डी. , शोध-प्रबन्ध, हिंदी), 1977
3. तुलसी-साहित्य के सांस्कृतिक आयाम (डी. लिट्. शोध-प्रबन्ध, हिंदी), 1995
4. अंधा युग : एक विवेचन (पुरस्कृत), 1973
5. तुलसी-साहित्य में नीति, भक्ति और दर्शन, 1983
6. तुलसी-साहित्य में शरीरविज्ञान तथा मनोविज्ञान, 1978
7. साहित्य-चिन्तन के नये आयाम, 1983
8. चिन्तन और अनुशीलन, 1992
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास, 1983
10. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, 1988
11. श्री चन्द्रावली नाटिका (सर्वांगीण विश्लेषण-विवेचन), 1974
12. भाषा और भाषाविज्ञान, 1999

13. भारतीय काव्यशास्त्र, 2006
14. शोध-प्रविधि, 2007
15. भारतीय इतिहास की आत्मा : वेदान्त, 2010
16. हिन्दू धर्म और देवलोक, 2014

ख. सर्जनात्मक कृतियाँ :

1. नीयी पीढ़ी, नये स्वर (किशोर-कविता-संग्रह), 1978
2. संकल्पों के स्वर (किशोर-कविता-संग्रह), 1996
3. सुगन्धि के स्वर (किशोर-कविता-संग्रह), 1999
4. सूरज नहीं बुझेगा (कविता-संग्रह), 1995
5. छक्के पर छक्के (हास्य-व्यंग्यात्मक कविताएँ), 2002
6. संस्कृति के आलोक-शिखर (कविता-संग्रह), 2002
7. डॉक्टर डमरूगोपाल (पुरस्कृत उपन्यास), 1996
8. पवनपुत्र की पूँछ (पुरस्कृत उपन्यास), 1999
9. चमचा-पुराण (हास्य-व्यंग्यात्मक निबन्ध), 1980
10. चिट्ठी मिस स्वीटी की (हास्य-व्यंग्यात्मक निबन्ध) 1995
11. हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान, 2012

ग. सम्पादित कृतियाँ :

1. तरंगों के रंग (कविता-संग्रह), 1982
2. व्यंग्य के रंग (हास्य-व्यंग्यात्मक निबन्ध), 1986
3. परिवेश के रंग (हास्य-व्यंग्यात्मक निबन्ध), 1982
4. व्यंग्य के प्रसंग (हास्य-व्यंग्यात्मक निबन्ध), 1988
5. उदयभानु हंस का प्रबन्ध-कौशल (समालोचना-ग्रन्थ), 1995
6. डॉ. तरुण का काव्य-संसार (समालोचना-ग्रन्थ), 1995
7. डॉ. महेन्द्र भटनागर के गीत (कविता-संग्रह), 2001

घ. अन्य :

1. विभिन्न लेखकों, शोधकों, समालोचकों, रचनाकारों की 75 पुस्तकों की भूमिकाएँ लिखीं।
2. विभिन्न साहित्यकारों की पुस्तकों की 40 समीक्षाएँ लिखीं।
3. विभिन्न शोध-पत्रिकाओं के लिए लगभग 60 शोध-लेख लिखे।